जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 5 • मई, 2005

With best compliments from :

HEMRAJ SAMSUKHA

VINEET TEXFAB LTD.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • मई, 2005 • अंक 5

प्रसंग

5
शुभू पटवा
कर्म, श्रम और स्वधर्म

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
नियंत्रण : दमन नहीं, सहज प्रक्रिया

14
जैनेंद्रकुमार
पारलौकिक ही नहीं अहिंसा और मुक्ति

17
मुनि राकेशकुमार
व्यक्ति, पदार्थ और अध्यात्म

19
साध्वी योगक्षेमप्रभा
धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय और जैन दर्शन

अनुभूति

25
पांडुरंग सदाशिव साने
संयम : एक उत्कृष्ट कर्म; एक शक्ति

30
मुनि जतनकुमार
महाजनो येन गतः स पंथा

33
मुनि रमेशकुमार
खणं जाणाहि पंडिए

36
कहानी
विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय
वामा

42
कविता
श्रीकांत वर्मा की कविता

शीलन

45
साध्वी श्रुतयशा
श्रम : आध्यात्मिक अभिप्राय

48
मुनि आनंदकुमार
तप : कर्म-निर्जरा और आत्मशुद्धि

50
साध्वी यशोधरा
अनाग्रह का आलंब : स्याद्वाद

53
बालकथा
पद्मा राव
मिनी को मिली सहेली

•

आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

जितना पचा सके उतना दो

संवत् 1856 की घटना है। स्वामीजी ने पांच साधुओं के साथ नाथद्वारा में चातुर्मास किया। भारमलजी स्वामी, खेतसीजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी—तीनों एकांतर (एक दिन उपवास और एक दिन आहार) करते थे। स्वामीजी अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करते थे। उदैरामजी स्वामी बेले-बेले की तपस्या करते और पारणे में आयंबिल (केवल एक अन्न और जल) करते।

खेतसीजी स्वामी उदैरामजी को आहार अधिक देते, तब स्वामीजी ने उन्हें बरजा और कहा—'उदैरामजी के दो दिन के उपवास का पारणा है। ये जितना आहार पचा सकें, उतना ही दो।' स्वामीजी के कहने पर भी खेतसीजी स्वामी उदैरामजी को अधिक आहार देने की चेष्टा करते। यह देख स्वामीजी ने कहा—'खेतसीजी! उदैरामजी की मृत्यु तुम्हारे हाथों होगी, ऐसा लगता है।'

स्वामीजी का वचन मिल गया

स्वामीजी स्वर्गवासी हो गए। संवत् 1861 की घटना है। उदैरामजी मारवाड़ में विहार करते हुए 'आयंबिल वर्धमान तप' कर रहे थे। उसकी 41 पंक्तियां संपन्न हो गई। उसके बाद एक अठाई (आठ दिन के उपवास) की। इसका पारणा खारचियां गांव (मारवाड़ जंक्शन के पास) में किया। उनके शरीर में कोई आकस्मिक वेदना हो गई। वे भारमलजी स्वामी के पास चेलावास जा रहे थे। किंतु वे कराड़ी गांव पहुंचते-पहुंचते थक गए। तब तपस्वी भोपजी चेलावास गए और उन्होंने भारमलजी स्वामी को सारे समाचार बताए। तब खेतसीजी स्वामी, हेमजी स्वामी और तपस्वी भोपजी आदि गए और उन्हें कंधे पर बिठा कर चेलावास ले आए। घास का बिछौना कर उस पर सुला दिया।

साध्वी हीरांजी ने हेमजी स्वामी के पास आकर कहा—'आप लेखन क्या कर रहे हैं? यह ग्रंथ की प्रतिलिपि क्या कर रहे हैं? तपस्वी उदैरामजी को पानी पिलाएं।' तब खेतसीजी स्वामी और हेमजी स्वामी दोनों आए। खेतसीजी स्वामी ने उदैरामजी को पीछे का सहारा दे बिठाया। इतने में उनकी आंखें खिंच गईं। भारमलजी स्वामी ने कहा—'यदि तुम भीतर से जाग्रत हो और स्वीकारते हो तो तुम्हें चारों आहार का त्याग है।' वे खेतसीजी स्वामी के हाथों में ही चल बसे। तब खेतसीजी स्वामी ने कहा—'मुझे स्वामीजी ने कहा था—उदैरामजी की मौत तुम्हारे हाथों में ही होगी। सो उनकी मौत मेरे हाथों में ही हुई। स्वामीजी का वचन मिल गया।'

•

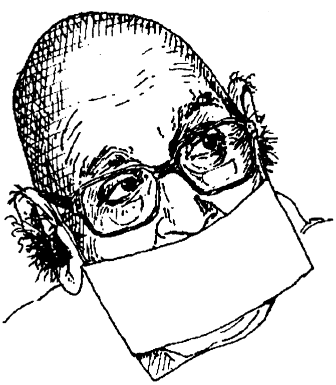

जिस समाज व्यवस्था में कुछ लोग भौतिक समृद्धि के शिखर पर रहते हैं और कुछ लोगों को दिन-रात श्रम करने पर भी पेट-भर रोटी नहीं मिलती, वहां अपराधी मनोवृत्ति का जन्म होता है। धोलनगर (गुजरात) नरेश का सेवक उनके पांव दबा रहा था। राजा की आंख लगी। सेवक ने अंगूठे में पहना हुआ स्वर्ण आभूषण निकाल लिया। राजा को सेवक पर संदेह हुआ, किंतु कुछ कहा नहीं। दूसरे दिन सेवक फिर पांव दबाने लगा। राजा ने नींद का बहाना बनाया। सेवक ने दूसरे पांव के अंगूठे से आभूषण निकालने का प्रयास किया। राजा ने कहा—'एक तो रहने दे।' सेवक हतप्रभ रह गया। उसका मन अनुताप से भर गया। उसने राजा से माफी मांगी। राजा ने कहा—'यह गलती तेरी नहीं, मेरी है। तुझे कम वेतन मिलता है। इतने वेतन से तेरा गुजारा नहीं हो पाता। मैंने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। मेरी लापरवाही के कारण तेरे मन में अपराधी प्रवृत्ति का जन्म हुआ।' कहा जाता है कि उस दिन के बाद राजा ने अपने सब कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया।

—आचार्य तुलसी

अध्यात्म का आधार तत्त्व है—आत्मा। हर आत्मा अपने पराक्रम का प्रस्फोट कर परमात्म पद को प्राप्त कर सकती है। परमात्म पद की उच्चतम अवस्था तक पहुंचने से पूर्व हर साधक को कई अन्य सोपान भी तय करने होते हैं। अनेक भूमिकाओं को पार करना होता है। अध्यात्म के आरोहण की महायात्रा का प्रथम सोपान है—सम्यक्दर्शन। जो प्राणी संसार में परिभ्रमण करते-करते सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लेता है, वह अनंत संसार को परिमित कर लेता है।

आत्मा की यात्रा अनंतकाल की यात्रा होती है। इस अनंत की यात्रा में परिभ्रमण करते-करते एक क्षण ऐसा आता है, जब आत्मा मिथ्यात्व के अंधकार से मुक्त होकर सम्यक्त्व का अपूर्व प्रकाश प्राप्त कर लेती है।

—युवाचार्य महाश्रमण

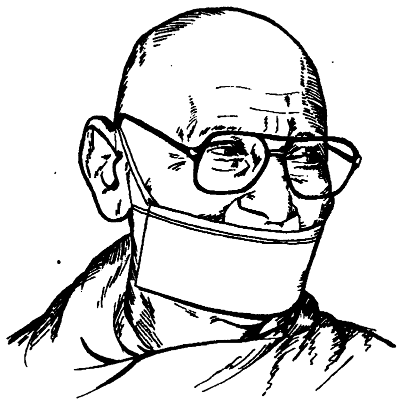

धर्म के क्षेत्र में यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या धर्म के पास रेचन का कोई उपाय है? धर्म दमन ही सिखाता है, वह कहता है—गुस्से को दबाओ, कामवासना का दमन करो, भय और अहं को दबाओ। धर्म केवल दबाने की ही बात करता है। पर, यह बात सही नहीं है। धर्म ने कभी दमन नहीं सिखाया। उसके पास निर्जरा का सिद्धांत है। निर्जरा का अर्थ है—रेचन। जो भीतर संचित है, उसको बाहर निकालना—यह है निर्जरा। इतना निकालना, इतना रेचन करना कि भीतर में जो संचित है, केवल वही समाप्त न हो जाए, बल्कि संचित करने का तंत्र भी समाप्त हो जाए।

जब किसी पंछी की पांखें रजों से भर जाती हैं तब वह अपनी पांखों को प्रकंपित कर सारे रजकणों को झाड़ देता है।

इसी प्रकार इतना प्रकंपन करो कि सारा दबाव समाप्त हो जाए, बाहर निकल जाए, रेचन हो जाए। यह निर्जरा की प्रक्रिया है। यह केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की ही प्रक्रिया नहीं है, किंतु क्रोध और भय के मूल तंत्र को मिटाने की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा ही ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियों की निर्मलता, धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति उपलब्ध होती है।

निर्जरा का मूल हेतु तपस्या है। तपस्या के द्वारा तीन बातें फलित होती हैं—1. ऊर्जा का अधिक संचय, 2. ऊर्जा का अल्प व्यय, 3. ऊर्जा की ऊर्ध्व यात्रा।

यह घटित होने पर ज्योतिपुंज के साथ साधक का संपर्क स्थापित हो जाता है। वह रश्मि जो 'मैं हूं'—प्रतीत होती थी—वह ज्योतिपुंज में मिल जाती है। और तब 'मैं हूं' बदल जाता है। केवल 'है' शेष रह जाता है 'मैं' की बात समाप्त हो जाती है।

जो रश्मियां बिखरी पड़ी थीं, जो एक जालीदार ढक्कन से छन-छनकर बाहर फैल रही थीं, वे सारी रश्मियां सिमटकर ज्योतिपुंज में लीन हो जाती हैं। उस समय ज्योतिपुंज के साक्षात्कार का प्रश्न भी समाप्त हो जाता है। वहां कौन ज्योतिपुंज और कौन मैं—यह भेद मिट जाता है। सब-कुछ ज्योतिमय बन जाता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

कर्म, श्रम और स्वधर्म

देहधारियों की जीवनचर्या के साथ कर्म और श्रम जुड़ा हुआ है। जो देहधारी है—चाहे पशु-पक्षी या जीव-जंतु—किसी-न-किसी रूप में उसे श्रम करना ही होता है। मनुष्य का जीवन भी इसी पर टिका है और चूंकि इस जैव मंडल का वह सर्वोत्कृष्ट प्राणी है, इसलिए उसका श्रम और कर्म एक तरह से उसका स्वधर्म है। यह करते हुए उसे मानना चाहिए कि वह अपना स्वधर्म कर रहा है। हमारे शास्त्रों में और हमारे मनीषियों ने कर्म और श्रम पर गहन विचार किया है। गीता का कर्मयोग हो अथवा जैन मत में विवेचित कर्मवाद, यदि वर्तमान जीवन में उन बातों का थोड़ा-कुछ समावेश भी हो जाए तो बहुत-सी विसंगतियों, सामाजिक-आर्थिक विषमताओं और मनोमालिन्यों से हम मुक्त हो सकते हैं।

एक मई का दिन 'श्रम दिवस' के रूप में विश्व-भर में मान्य है और भारत में भी इसी तरह श्रमिक एकता और हितों की बातें होती हैं। शोषण, अन्याय, असमानता और गैर-बराबरी के विरुद्ध बहुत-कुछ कहा जाता है। राष्ट्रव्यापी मजदूर संगठनों की ओर से श्रम दिवस के रोज हर स्तर पर सभाएं और बहस-मुबाहसे होते हैं। क्या इन सब चर्चाओं में वे बातें आनी चाहिए जो अब तक छूटती रही हैं? गैर-बराबरी और शोषण के विरुद्ध क्या वे बातें असरदार अस्त्र साबित हो सकती हैं? हम उन बातों पर थोड़ा विचार करें।

यह न मानने का कोई कारण नहीं कि हमारे श्रमिक नेताओं की समझ और सूझबूझ असंदिग्ध है और हमें यह विश्वास करना चाहिए कि श्रम और कर्म के परिप्रेक्ष्य में भारतीय मनीषियों ने जो-कुछ कहा है, उन बातों से वे परिचित हैं। वे जानते हैं कि वे बातें श्रम की प्रतिष्ठा को द्विगुणित ही करती हैं।

श्रम और कर्म की उन विवेचनाओं में उभरे बहुत-से बिंदुओं पर ठीक से गौर करें तो हम पाएंगे कि जिन मुद्दों को लेकर टकराव पैदा होते हैं, वे टकराव टाले भी जा सकते हैं, बशर्ते कि उन बिंदुओं पर हम गौर करें।

कुछ बिंदुओं को हम देखें। गीता का यह पद सर्वविदित है कि—तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है, स्वयं को फल का हेतु मत समझ और कभी अकर्मण्य होकर मत रह। लेकिन, एक सामाजिक प्राणी, एक गृहस्थ से क्या यह अपेक्षा की जा सकती है? एक संसारी व्यक्ति, एक गृहस्थ अपनी उदरपूर्ति के लिए, अपने घर-परिवार के सुसंचालन के लिए कर्म करेगा और फल की इच्छा भी करेगा ही। आचार्य विनोबा भावे यहां एक किसान का उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं—'जो कर्मयोगी किसान होगा वह स्वधर्म समझ कर खेती करेगा। इससे उसकी उदरपूर्ति होगी, पर उदरपूर्ति हो, इसलिए वह खेती नहीं करता, बल्कि खेती कर सके, इसलिए भोजन को वह एक साधन मानेगा। स्वधर्म उसका साध्य और भोजन उसका साधन हुआ।' खादी का उदाहरण देते हुए विनोबाजी कहते हैं—'खादी की गांठ कंधे पर लादकर घर-घर फेरी लगाने वाला क्या ऊब जाता है? नहीं, क्योंकि वह इस विचार में मस्त रहता है कि देश में जो करोड़ों मेरे नंगे-भूखे भाई-बहन हैं, उन्हें मुझे दो कौर खिलाना है। उसका वह गज-भर खादी खपाना समस्त दरिद्रनारायण के साथ जुड़ा हुआ होता है।' वे कहते हैं—'वह कभी विदेशी कपड़ा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा' और यह कहते हुए वे यह मत स्थापित करते हैं कि—'अपने को भूलकर अपने आस-पास के समाज से समरस होने वाले ऐसे कर्मयोगी जिस समाज में पैदा होते हैं, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि और सौमनस्य रहता है।'

आज स्थिति उलट है। आज व्यापार हो अथवा उद्योग, उसका एकमात्र उद्देश्य है अधिक-से-अधिक मुनाफा। जिस समाजोपकारक व्यापार की बात विनोबा ने कही, आधुनिक समाज-व्यवस्था में वह सिरे से ही गायब है। इसीलिए गलाकाट होड़ मची है और इसीलिए मिलावट से लेकर वस्तुओं का कृत्रिम अभाव, संग्रहण की दुर्दांत मनोवृत्ति तथा भाव और मुनाफे का मनमानापन हम देखते हैं। हम देखते हैं कि एक कारखानेदार अपने मुनाफे का अल्पांश ही श्रमिकों के लिए छोड़ता है और इसीलिए श्रमिक संगठन खड़े होते हैं, मजदूर गोलबंद होते हैं और अंततः टकराव की स्थितियां बनती हैं।

अंतरराष्ट्रीय श्रम दिवस जैसे अवसर पर मजदूर एकता, मजदूर हितों और मजदूरों के शोषण जैसे बिंदुओं पर बातें जरूर होती हैं, पर श्रम की महत्ता पर चर्चा नहीं होती। 'श्रम संगठनों' में केवल मजदूर वर्ग ही होता है, नियोक्ता कभी उसमें सहभागी नहीं होता—जैसे कि वह श्रम करता ही न हो। दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि जो नियोक्ता है, वह अपने को श्रमिक मानने को भी तैयार नहीं होता। इसीलिए शायद श्रम संगठनों में मजदूर हित की बात ही होती है। 'श्रम या कर्म' पर कोई चर्चा कभी नहीं होती। इसीलिए निजी स्वार्थ और क्षुद्र लालसाएं हमारे मनों पर हावी रहती हैं। किसी भी तरह का कर्म स्वार्थमुक्त अथवा लालसामुक्त हो सकता है, या कि होना चाहिए—इस तरह का चिंतन 'श्रम संगठनों' में होता ही नहीं।

डॉ. एस. राधाकृष्णन कहते हैं—'यदि संसार को भौतिक कष्ट और नैतिक अधःपतन की दशा में नहीं गिरना है, यदि सामान्य जीवन को सुचारु और सगौरव होना है, तो सामाजिक कर्म का नियंत्रण धार्मिक नीति से होना चाहिए।' डॉ. राधाकृष्णन धर्म के प्रसंग को भी यहां स्पष्ट करते हैं, कहते हैं—'धर्म का उद्देश्य समाज का आध्यात्मिकीकरण करना है, पृथ्वी पर भ्रातृभाव की स्थापना करना है।'

धर्म के आध्यात्मिकीकरण और भ्रातृभाव से यहां इतना ही तात्पर्य मानना चाहिए कि जो कर्म या श्रम हम करते हैं, अपने को उससे कितना अनासक्त रख सकते हैं। जब तक जीवन है, हमें कर्म तो करते रहना है। कर्म करते हुए भी यदि उसमें आसक्त न हों, लालसामुक्त रहें और निजी स्वार्थों का मोहजाल हमें न घेरे तो वैसा कर्म हमारा स्वधर्म ही माना जाएगा। वही कर्म श्रेयस् होगा। यही आध्यात्मिकीकरण है और इसी से भ्रातृभाव आ सकता है।

हमारे श्रम संगठन इस बार अंतरराष्ट्रीय श्रम दिवस पर इस दृष्टि से भी विचार करें। कर्म और श्रम को एक नई रोशनी मिल सकेगी—ऐसा हम मानते हैं।

—शुभू पटवा

विमर्श

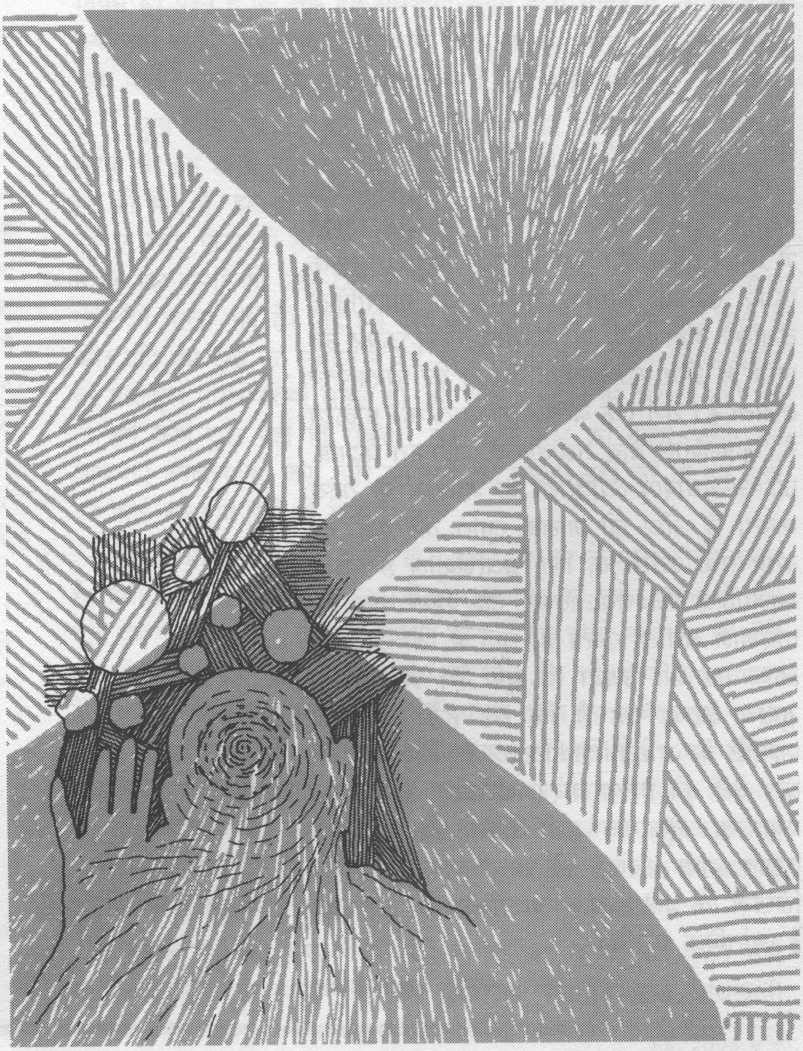

धर्म का उद्देश्य चिंतन या भावसमाधि नहीं है, अपितु जीवन की धारा के साथ एकात्म्य स्थापित करना और इसलिए सृजनात्मक प्रगति में भाग लेना है। धर्मपरायण मनुष्य उसके ऊपर उसकी भौतिक प्रकृति या सामाजिक दशाओं द्वारा थोपी गई मर्यादाओं से ऊपर उठ जाता है और सृजनात्मक उद्देश्य को विशालतर बनाता है। धर्म एक गत्वर (गत्यात्मक) प्रक्रिया है, सृजनशील तीव्र मनोवेग के नवीकृत प्रयास, जो असाधारण व्यक्तियों के माध्यम से कार्य करता है और जो मानव-जाति को एक नए स्तर तक उठाने के लिए प्रयत्नशील है। यदि सामाजिक निश्चेष्टतावाद, जो रहस्यवाद का परिणाम बताया जाता है, बुरा है, तो आर्थिक भाग्यवाद भी उतना ही बुरा है। मार्क्स का मुख्य इरादा यह है कि वह हमें स्वयं को समष्टि के आध्यात्मिकीकरण के लिए समर्पित कर देने को प्रेरित करे। मानवीय आत्मा को स्वतंत्रता दिलाकर हम केवल उस एकमात्र पद्धति द्वारा संसार को उत्कृष्टतर बनाते हैं। जिससे कि इसे बनाया जा सकता है, और वह है आंतरिक पद्धति।

—एस. राधाकृष्णन

नियंत्रण : दमन नहीं, सहज प्रक्रिया

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

साधना की समग्र पद्धति नियंत्रण या संयम की पद्धति है। 'नियंत्रण' शब्द से किसी को चौंकना नहीं चाहिए। इसे अप्रिय न मानें। समूची प्रकृति में पग-पग पर हम नियंत्रण देखते हैं। बिना नियंत्रण के कोई काम चल ही नहीं सकता। नियंत्रण दमन नहीं है। वह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इससे उदासीन नहीं हुआ जा सकता। क्या दरवाजा बंद करना नियंत्रण नहीं है? क्या मकान बनाना नियंत्रण नहीं है? दरवाजा बंद करना, मकान बनाना, कपड़े पहनना—ये सब क्रियाएं नियंत्रण ही हैं। नियंत्रण भी जरूरी है। दुख-मुक्ति चाहते हैं तो अपने संवेदन-केंद्रों पर नियंत्रण करना ही होगा।

संसार का प्रत्येक प्राणी दुख से मुक्त होना चाहता है। सुख सब चाहते हैं, दुख कोई नहीं चाहता। यह प्राकृतिक और सार्वभौम नियम है। प्रश्न है कि जब हम सब दुख-मुक्त होना चाहते हैं, तो मुक्त हो क्यों नहीं पाते? दुख-मुक्ति की हमारी तीव्र चाह है, पर वह पूरी नहीं होती। ऐसा क्यों? इस प्रश्न के पीछे जो रहस्य है, उसे हम समझें।

सुख और दुख—ये दो तत्त्व हैं। हम इस बात को न भूलें कि सुख के घटक भी हम ही हैं और दुख के घटक भी हम ही हैं। सुख-दुख का बीज हम ही बोते हैं, हम ही उसे अंकुरित करते हैं, पुष्पित और पल्लवित करते हैं। इन सारी क्रियाओं में दूसरा कोई उत्तरदाई नहीं है। यह बहुत बड़ी भ्रांति है कि हम दूसरों को सुख-दुख के लिए उत्तरदाई मानते हैं। दुनिया में कोई कुछ देने वाला नहीं है। यदि हम दुख का संवेदन करें तो हमें दुख होता है और यदि हम दुख का संवेदन न करें तो हमें दुख नहीं होता। अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियां सामने हों और यदि हम दुख का संवेदन नहीं करें तो हमें कोई दुख नहीं हो सकता। इसी तरह सुख की हजार प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध हो जाएं और हम सुख का संवेदन नहीं करें तो हमें सुख की कोई अनुभूति नहीं हो सकती।

दुख और सुख का एहसास होना हमारे संवेदन-केंद्र पर निर्भर करता है। हमारा संवेदन-केंद्र कार्य करता है तो सुख-दुख का संवेदन होता है और यदि वह कार्य नहीं करे तो कोई संवेदन भी नहीं हो। हमारे मस्तिष्क के पीछे एक पीड़ा-केंद्र है। वैज्ञानिक यह प्रयोग कर रहे हैं कि औषधियों के द्वारा उस केंद्र को निष्क्रिय बना दिया जाए, कि व्यक्ति पीड़ा का संवेदन ही न कर सके। अनेक प्रकार की औषधियां हैं और प्रयोग भी चल रहे हैं। जब पीड़ा-केंद्र पूर्ण रूप से निष्क्रिय हो जाता है, तब पीड़ा का संवेदन समाप्त हो जाता है। फिर शरीर में चाहे कहीं भी पीड़ा हो, व्यक्ति को उसका अनुभव ही नहीं होता। पीड़ा देता है—यह संवेदन-केंद्र। यदि यह केंद्र निष्क्रिय हो जाता है तो फिर कोई भी घटना घटित हो, उसका संवेदन नहीं होगा।

मनुष्य की यह एक बड़ी भ्रांति है कि वह घटना को मुख्य मान परिस्थिति और वातावरण को ही सब-कुछ मान लेता है। घटना, परिस्थिति

और वातावरण—ये सब अपना-अपना काम करते हैं और करेंगे और करते ही रहेंगे। परिस्थितियों में उतार-चढ़ाव होगा, वे ऊबड़-खाबड़ होंगी। सारी दुनिया ही ऊबड़-खाबड़ है, समतल कहीं नहीं है। इन्हें मिटाया नहीं जा सकता। परिस्थितियां कभी एक-सी नहीं रहतीं। सर्दी के बाद गरमी आती है और गरमी के बाद बरसात। हम न सर्दी को रोक सकते हैं और न गरमी। सदा गरमी ही रहे, ऐसा कभी नहीं हुआ। ऋतुओं का चक्र निरंतर चलता रहता है। आदमी बुद्धिमान प्राणी है। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में वह अपने उपाय निकाल लेता है। वह प्रतिकूलताओं से बच सकता है।

एक राजा के पैर में कांटा चुभ गया। पीड़ा का अनुभव हुआ। राजा ने सोचा—लोग चलते हैं तो उनके पैरों में भी कांटे चुभते होंगे। कितना कष्ट होता होगा। अच्छा हो कि सारी जमीन को चमड़े से मढ़ा लूं। किसी के पैर में कांटा नहीं चुभेगा। राजा ने मंत्री को बुलाकर आदेश दिया कि राज्य की समूची भूमि को चमड़े से मढ़ दें। मंत्री ने कहा—राजन्! यह असंभव है। ऐसा कभी हो नहीं सकेगा। यदि हम सारी पृथ्वी पर चमड़ा मढ़ा देंगे तो फिर खेती कहां पर होगी? पेड़ कहां होंगे? वनस्पति कहां होगी? हमारा जीवन कैसे चलेगा? आप ऐसी अतिकल्पना न करें, भूमि को चमड़े से मढ़ी देखने का स्वप्न न लें। मंत्री ने विकल्प दिया—प्रत्येक व्यक्ति अपने पैरों में जूता पहन ले, ऐसी व्यवस्था हम करें। अपने-आप सारी भूमि चमड़े से मढ़ी हो जाएगी। आदमी ने जूता पहनना शुरू किया। कांटे चुभने बंद हो गए।

हम परिस्थितियों को रोक नहीं सकते। प्राकृतिक घटनाओं से आने वाले सुख और दुख के निमित्तों को रोक नहीं सकते। किंतु जिसके द्वारा हमें सुख और दुख का संवेदन होता है उस पर हम नियंत्रण कर सकते हैं।

साधना की समग्र पद्धति नियंत्रण या संयम की पद्धति है। 'नियंत्रण' शब्द से किसी को चौंकना नहीं चाहिए। इसे अप्रिय न मानें। समूची प्रकृति में पग-पग पर हम नियंत्रण देखते हैं। बिना नियंत्रण के कोई काम चल ही नहीं सकता। नियंत्रण दमन नहीं है। वह जीवन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इससे उदासीन नहीं हुआ जा सकता। क्या दरवाजा बंद करना नियंत्रण नहीं है? क्या मकान बनाना नियंत्रण नहीं है? दरवाजा बंद करना, मकान बनाना, कपड़े पहनना—ये सब क्रियाएं नियंत्रण ही हैं। नियंत्रण भी जरूरी है। दुख-मुक्ति चाहते हैं तो अपने संवेदन-केंद्रों पर नियंत्रण करना ही होगा।

नियंत्रण की प्रक्रिया : प्रेक्षा

नियंत्रण की एक पद्धति है—प्रेक्षा। केवल वाणी के द्वारा हम नियंत्रण नहीं साध सकते। नियंत्रण के लिए कुछ अभ्यास करना होता है, प्रयोगों से गुजरना होता है। प्रेक्षा का अर्थ है—देखना। हम पहले देखें और अपनी संकल्प-शक्ति का प्रयोग करें। देखने का अर्थ है—साक्षात्कार करना। यह केवल मानना नहीं है, दूसरों के सहारे चलना नहीं है। इसमें न शब्दों का सहारा होता है, न मान्यताओं का सहारा। यह अपने ही अनुभव से गुजरना है। एक है पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान और एक है प्रयोग-सिद्ध ज्ञान। प्रयोग-सिद्ध ज्ञान का नाम है—अनुभव। जो बात स्वयं की कसौटी पर खरी उतरती है, वही हमारा अनुभव बन जाती है। जो बात सुनी-सुनाई होती है, वह कभी अनुभव नहीं बन सकती। वह तो उधार की पूंजी होती है। अनुभव नगद की पूंजी है, स्वयं की संपदा है, स्वयं की पूंजी है।

बुद्धि : ममकार और अहंकार

अध्यात्म के एक आचार्य ने रूपक की भाषा में एक रहस्य का उद्घाटन किया। मन में यह विकल्प उठा कि अनुभव को जगाया जाए। मन की बात बुद्धि तक पहुंची। यह जानकर अहंकार ने बुद्धि के पास आकर कहा—

अहंकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

'अरे बुद्धि! तुम अनुभव को मत जगाओ। उसे सोया ही रहने दो। उसका सोना ही अच्छा है।' बुद्धि ने पूछा—'क्यों, क्या बात है?' अहंकार बोला—'तुम नहीं समझती। अनुभव के जाग जाने पर न तुम्हारा अस्तित्व ही रहेगा, न मेरा अस्तित्व ही रहेगा और न यह जगत् (का ममत्व) ही रहेगा। सब नष्ट हो जाएंगे। इसलिए उस अनुभव को सोने ही दो।'

बुद्धि ने अहंकार की बात नहीं मानी। इतने में ही ममकार वहां आ पहुंचा। उसने बुद्धि से कहा—

ममकारो धियं ब्रूते, नैनं सुप्तं प्रबोधय।
उदिते परमानन्दे, न त्वं नाहं न वै जगत्॥

'देवी बुद्धि! अनुभव को मत जगाओ। इसे जगाना खतरनाक है। इसे जगाना अपने अस्तित्व को गंवाना है।

इसके जाग जाने पर न मैं रहूंगा, न तू रहेगी और न जगत् रहेगा। सब-कुछ समाप्त।'

बुद्धि के कुछ क्षण ऐसे आते हैं, जब उसमें अनुभव को जगाने की प्रेरणा जागती है। तब साधक छटपटाता है। वह चाहता है कि बुद्धि की सीमा समाप्त हो और अनुभव की सीमा में प्रवेश हो। किंतु जब-जब अनुभव को जगाने का प्रयत्न होता है तब-तब अहंकार और ममकार सामने आकर खड़े होते हैं और वे पूरा प्रयत्न करते हैं कि बुद्धि अनुभव को जगाने का प्रयास न करे, परम आनंद को न जगाए।

समाधि के तीन विघ्न

हमारे जीवन में चार स्थितियां आती हैं—व्याधि, आधि, उपाधि और समाधि। हम समाधि में जाना चाहते हैं, परम आनंद की व्यवस्था में जाना चाहते हैं। ध्यान का प्रयत्न समाधि का प्रयत्न है। यह समाधि की यात्रा है। समाधि की दिशा में यह एक प्रयाण है। प्रत्येक ध्यान-साधक समाधि के लिए अपने-आप को समर्पित करता है।

समाधि का यात्रा-पथ बहुत लंबा है। समाधि तक पहुंचने में लंबी यात्रा करनी पड़ती है। उस यात्रा में तीन बड़े विघ्न आते हैं—व्याधि, आधि और उपाधि। ये तीन अवरोध हैं और इनको पार करके ही साधक समाधि तक पहुंच पाता है। जो व्यक्ति परम आनंद तक पहुंचना चाहता है, परम सुख को प्राप्त करना चाहता है, अनुभव को जगाना चाहता है, उसे इन तीनों अवरोधों को दूर करना ही होगा, अन्यथा वह आगे नहीं बढ़ सकेगा। इन अवरोधों को समझने की जरूरत है।

व्याधि

व्याधि, आधि, उपाधि और समाधि—ये चारों शब्द एक ही संस्कृत धातु से निष्पन्न होते हैं। प्रथम तीन हमारे लिए अनुपादेय हैं और शेष एक—समाधि हमारे लिए उपादेय है।

व्याधि का अर्थ है—शारीरिक बीमारी। शारीरिक बीमारियों को मिटाए बिना हम समाधि तक नहीं पहुंच सकते। व्याधियां प्रतिपल सताने लगती हैं। पग-पग पर वे समस्याएं उत्पन्न करती हैं। जब साधक ध्यान करने बैठता है, उसकी शारीरिक बीमारियां उग्र होने लगती हैं। जहां कभी भी दर्द महसूस नहीं होता, वहां भी दर्द प्रकट हो जाता है। दर्द प्रवाही होता है। कभी इधर और कभी उधर। ध्यान में मन ही नहीं लगता। सारी एकाग्रता को दर्द नष्ट कर देता है। ध्यान करें या पैरों में उठने वाले दर्द को संभालें? ध्यान में रीढ़ की हड्डी सीधी रखने का प्रयत्न करते हैं तो वहां भी दर्द उठता है। ध्यान करें या रीढ़ की हड्डी को संभालें? दीर्घ श्वास लेने का प्रयत्न करते हैं तब फेफड़े में दर्द होने लगता है, पेट में दर्द होने लगता है। व्याधियां सताती हैं तब समाधि प्राप्त नहीं हो सकती। समाधान कैसे मिले? समाधि तक पहुंचने के लिए व्याधि पर नियंत्रण पाना जरूरी है। व्याधि को देखें और व्याधि पर नियंत्रण करें। अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखें। पुरुषार्थ से नियंत्रण पाया जा सकता है।

रक्तचाप एक व्याधि है। ध्यान के द्वारा उस पर नियंत्रण हो सकता है। रक्तचाप में तापमान कम होता है, तापमान बढ़ता है और रक्ताणुओं की प्रक्रिया वृद्धिंगत होती है। इन सब पर नियंत्रण हो सकता है। जितनी शारीरिक व्याधियां हैं, उन पर नियंत्रण हो सकता है। पहले हम प्रेक्षा करें, देखें, फिर नियंत्रण करें। हमारे शरीर में अनेक नियंत्रण-कक्ष हैं, नियंत्रण की अनेक शक्तियां हैं। हम उन्हें जान लें तो नियंत्रण करना सहज और सरल हो सकता है। दवाइयों से पिंड छूट सकता है। आदमी यही मानता है कि व्याधि मिटाने का एक परमात्मा है—डॉक्टर, और एक परम उपाय है—दवाई। दवाइयां खाते जाओ और व्याधियां भुगतते जाओ। दवाई से एक व्याधि शांत होती है तो दूसरी उभर आती है। इसका कहीं अंत नहीं। यदि व्याधि को मिटाना है तो हम नियंत्रण करना सीखें।

आधि

समाधि का दूसरा अवरोधक तत्त्व है—आधि। यह मानसिक अस्वास्थ्य है। हम मन की उपेक्षा करते हैं, उस पर ध्यान ही नहीं देते। जबकि सबसे अधिक ध्यान देने योग्य वस्तु है—मन। सभी व्यक्ति मन की गंभीर बीमारियों को भोगते हैं। व्यक्ति कभी प्रिय संवेदनों का शिकार होता है और कभी अप्रिय संवेदनों का। तभी तो पदार्थों की प्रचुरता में भी वह दुखी बना रहता है। जिन पदार्थों पर व्यक्ति को सबसे ज्यादा भरोसा होता है, उनसे भी वह दुखी बन जाता है। संयोग दुख बढ़ाता है और वियोग भी दुख बढ़ाता है। आदमी जानता है कि संयोग भी निश्चित घटना है और वियोग भी निश्चित घटना है। कोई इन्हें टाल नहीं सकता। संयोग होगा तो वियोग निश्चित होगा। वियोग होगा तो संयोग निश्चित ही होगा। संयोग होना दुख नहीं है। वियोग होना भी दुख नहीं है। संयोग होना सुख नहीं है। वियोग होना भी सुख नहीं है। पर मनुष्य भ्रांति में रहता है। अप्रिय का संयोग होता है, आदमी दुखी बन जाता है। प्रिय

का वियोग होता है, आदमी दुखी बन जाता है। प्रिय का संयोग होता है, आदमी सुखी बन जाता है। अप्रिय का वियोग होता है, आदमी सुखी बन जाता है। आदमी संयोग से सुखी भी बनता है और दुखी भी बनता है। आदमी वियोग से सुखी भी बनता है और दुखी भी बनता है।

मृत्यु एक अनिवार्य घटना है। जो जन्मता है वह निश्चित ही मरता है। पर नियति की ऐसी घटना पर भी हम सुखी होते हैं, दुखी होते हैं। यह भ्रांति है। अन्यथा जन्म खुशी का कारण नहीं बनना चाहिए और मरण खिन्नता का कारण नहीं बनना चाहिए। मित्र की मृत्यु दुख का संवेदन पैदा करती है और शत्रु की मृत्यु सुख का संवेदन पैदा करती है। यह सब भ्रांति है। हमने इतने मानसिक चित्र बना रखे हैं कि उन्हें देखकर कभी सुखी हो जाते हैं और कभी दुखी।

पड़ोसी के घर में बिलौना होता था। यह देखकर एक स्त्री दुखी रहने लगी। बेटे ने पूछा—'मां, तुम इतनी दुखी क्यों रहती हो? इतना शोक क्यों करती हो?' मां ने कहा—'बेटा! क्या करूं, जब पड़ोसी के घर में बिलौना होता है, मथनी चलती है तो मुझे ऐसा अनुभव होता है कि वह मथनी दही में नहीं चल रही है, मेरी छाती में चल रही है। यही मेरे दुख का मूल कारण है।'

दुख कौन देता है—बिलौना, मथनी या पड़ोसी? कोई दुख नहीं देता। मन की भ्रांति ही दुख देती है।

एक गांव में एक व्यक्ति का मकान सबसे ऊंचा था। तिमंजिला मकान उसके अहंकार को जाग्रत किए था। कुछ वर्षों बाद एक व्यक्ति आकर उस गांव में बसा और उसने पांच-मंजिला मकान खड़ा कर दिया। तिमंजिले मकान वाला व्यक्ति दुखी हो गया। मित्रों ने दुख का कारण पूछा। उसने कहा—'आज तक सुखी था। मकान का अहं मुझे तृप्ति दे रहा था। अब दूसरे का ऊंचा मकान मेरे अहंकार पर चोट करता है। उसे देखते ही उदासी छा जाती है।'

दुखी कौन करता है? क्या बड़ा मकान उसे दुखी बना रहा है? नहीं। हमारे ही मन के अहंकार और ममकार परिस्थिति का निमित्त पाकर जाग्रत होते हैं और दुखी या सुखी बना देते हैं।

प्रियता और अप्रियता का संवेदन सुख-दुख का निमित्त बनता है। आधि की जटिलता कठिन प्रश्न है। उसकी चिकित्सा एक दुरूह विधि है। व्याधि से जितने व्यक्ति दुखी नहीं हैं, उससे अधिक व्यक्ति आधि से पीड़ित हैं। आज का आदमी शरीर से जितना अस्वस्थ नहीं है, उतना मन से अस्वस्थ है। सचाई यह है कि आदमी जितना मन से अस्वस्थ होता है उतनी ही व्याधियां भोगता है। एक दृष्टि से आधि ही व्याधि की जननी है। जो आदमी मन से स्वस्थ नहीं है, वह शरीर से स्वस्थ नहीं हो सकता। विचार ही आदमी को अस्वस्थ करते हैं और विचार ही आदमी को स्वस्थ करते हैं।

प्रेक्षा और संकल्प-शक्ति

व्याधि और आधि से निपटने के लिए हम नियंत्रण-शक्ति का विकास करें। प्रेक्षा इसका माध्यम है। विज्ञान के क्षेत्र में कुछ ऐसी खोजें हुई हैं जिनके आलोक में प्रेक्षा-ध्यान को सहज रूप में समझा जा सकता है। हम प्रेक्षा का अभ्यास अपनी चेतना के द्वारा करते हैं। हम प्रेक्षा के समय देखते हैं कि हमारे शरीर में क्या परिवर्तन हो रहे हैं? क्या क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं हो रही हैं? क्या रासायनिक परिवर्तन घटित हो रहे हैं? मस्तिष्क में क्या-क्या घटित हो रहा है? देखना, प्रेक्षा करना बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। पर देखना ही पर्याप्त नहीं है। देखने के साथ ही संकल्प-शक्ति का भी प्रयोग होना चाहिए।

आत्मा के तीन आयाम

देखना हमारी चेतना का उपयोग है, किंतु आत्मा का स्वभाव केवल चेतना ही नहीं है। आत्मा में तीन तत्त्व हैं—चेतना, शक्ति और आनंद। हम चेतना का उपयोग करें, देखें और जानें। हम आत्मा के दूसरे तत्त्व 'शक्ति' का उपयोग करें और परिवर्तनों को घटित करें, स्वभाव को बदलें, आदतों को बदलें, दुख देने वाले तत्त्वों को बदलें, प्रतिक्रियाओं को बदलें। इस शक्ति के अनेक आयाम हैं। हम संकल्प-शक्ति, कल्पना-शक्ति, इच्छा-शक्ति और एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें। हम चेतना के द्वारा जानते हैं और शक्ति के द्वारा दुखों के निमित्तों को बदलते हैं तब आनंद का अनुभव होता है। इस प्रकार तीन आयामों में हमारी प्रक्रिया पूरी होती है। यह समग्र प्रक्रिया है।

हृदय-रोगियों को परीक्षण के लिए चुना गया। उन्हें बताया गया कि उनके हृदय की धड़कन बहुत बढ़ गई है। उसे मंद करने के लिए हृदय को सुझाव देने का निर्देश देने की सलाह दी गई। मंद करो, मंद करो, मंद करो। रोगी ने सोचा कि कुछ अभ्यास किया जाए कि जिससे उसके हृदय की गति मंद हो सके। तब उसे संकल्प-शक्ति या भावना का प्रयोग बताया जाता है। उसे कहा जाता है—'तुम अपने आपको बहुत हल्का अनुभव करो। रुई के फाहे जैसा हल्का

अनुभव करो।' इस भावना के प्रयोग से हृदय की धड़कन मंद हो गई। एक महीने तक यह अभ्यास चला। हृदय की गति बदल गई। डॉक्टरों ने यंत्रों के आधार पर सूचना दी—'तुम्हारे हृदय की गति बहुत मंद है। उसे तेज करो।' रोगी ने संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया। उसने दौड़ने का संकल्प किया और सोचा—मैं तेज गति से दौड़ रहा हूं। कुछ ही समय के बाद हृदय की गति बढ़ गई।

प्रेक्षा और संकल्प—दो प्रक्रियाएं चलीं। प्रेक्षा से पता चल गया कि स्थिति क्या है। संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया और परिवर्तन घटित हो गया। तीसरे क्रम में आनंद का अनुभव होने लगा। तीनों बातें साथ हों तो प्रक्रिया पूरी होती है। कोरी चेतना काम नहीं देगी। कोरी शक्ति काम नहीं देगी। कोरा आनंद काम नहीं देगा। चेतना, शक्ति और आनंद—तीनों का समन्वय होना चाहिए। चेतना के जागने पर संकल्प की शक्ति का जागरण होता है और फिर परम आनंद की अनुभूति होने लगती है।

प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति विज्ञान से पूर्ण समर्थित है। यह अभ्यास की एक पद्धति है। अभ्यास से सारा चित्र व्यक्ति के सामने आता है और वह अपने को बदल देता है। नियंत्रण भी एक अभ्यास है। किसी भी वस्तु या प्रवृत्ति का त्याग कर देना ही नियंत्रण नहीं है। त्याग तो नियंत्रण का एक अंश है। नियंत्रण की पूर्णता तब होगी जब तीनों प्रक्रियाएं—चेतना को जगाने की प्रक्रिया, शक्ति को जगाने की प्रक्रिया और आनंद को प्राप्त करने की प्रक्रिया साथ-साथ चलेगी। प्रेक्षा का अभ्यास करने पर यदि आनंद की अनुभूति नहीं होती तो समझना चाहिए कि कहीं-न-कहीं त्रुटि रह गई है। संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया और आनंद की अनुभूति नहीं हुई तो समझना चाहिए कि कहीं त्रुटि अवश्य है। संकल्प-शक्ति का प्रयोग ठीक नहीं हुआ है। आनंद है—निष्पत्ति और आनंद ही कसौटी है। हम अपने अभ्यास को इस कसौटी पर कसते जाएं कि मैं जो कर रहा हूं उससे मुझे आनंद आ रहा है। यदि आनंद उपलब्ध हो रहा है तो प्रक्रिया ठीक है, अन्यथा कहीं-न-कहीं गड़बड़ी है। यह उसका थर्मामीटर है।

इस कथन से यह भ्रांति न पनप जाए कि साधना के दस ही दिनों में अनंत चेतना जाग जाएगी, असीम शक्ति और असीम आनंद प्रस्फुटित हो जाएगा। ऐसा नहीं हो सकता। दस दिनों के अभ्यास से संभव है कि आनंद का एक स्फुलिंग प्रकट हो सके, जिससे कि साधक को यह विश्वास हो जाए कि अभ्यास सही दिशागामी है।

उपाधि

समाधि के यात्रा-पथ का तीसरा अवरोधक है—उपाधि। यह सबसे खतरनाक है। हमारी चेतना के सबसे भीतर का स्तर यह है। चेतना का आंतरिक स्तर है—आवेग, क्रोध, मान, ईर्ष्या, लालच आदि। हमारी वृत्तियां ही चेतना का आंतरिक स्तर हैं। बीमारियां वहीं से आती हैं। चरित्र भी वहीं से आता है। चरित्र आता है वृत्तियों से और ग्रंथि-तंत्र से। ग्रंथियों का स्थान मस्तिष्क का स्थान नहीं है। आज तक यही माना जाता था कि मस्तिष्क हमारे शरीर का मुख्य अवयव है। इसी प्रकार हृदय और गुर्दे भी महत्त्वपूर्ण अवयव माने जाते हैं। शरीरशास्त्रीय नए आविष्कारों ने अब यह प्रमाणित कर दिया है कि शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अवयव है—हमारा ग्रंथि-तंत्र। अंतःस्रावी ग्रंथियों का स्राव बाहर नहीं होता। वह सीधा रक्त में ही मिलता है। आवेग, आवेश और आचरण—इन सबका निमित्त है ग्रंथि-तंत्र। ग्रंथि-तंत्र को प्रभावित किए बिना आदमी को सच्चरित्र, प्रामाणिक नहीं बनाया जा सकता। भ्रष्टाचार को समाप्त करने और जीवन में सचाई लाने के लिए ग्रंथि-तंत्र को प्रभावित करना होगा। आदमी उपदेशों से सच्चरित्र नहीं होता, वह ग्रंथि-तंत्र के स्रावों को बदलने से ही होता है। यह तथ्य आज अनुभवसिद्ध हो चुका है। यह नियम पंचानबे प्रतिशत लोगों पर लागू होता है। कुछेक व्यक्ति, जिनकी चेतना अत्यंत प्रबुद्ध होती है, वे इसके अपवाद हो सकते हैं। समस्त उत्तेजनाएं, वासनाएं और कामनाएं उपाधि की श्रेणी में आती हैं।

निष्कर्षतः हमें मानना होगा कि व्याधि, आधि और उपाधि—ये तीन अवरोधक हैं। इनको समाप्त करने और इनकी सीमाओं को पार करने पर समाधि की सीमा प्रारंभ होती है। समाधि का अनुभव, स्वास्थ्य का अनुभव, परम आनंद का अनुभव, वीतरागता का अनुभव—यह सब तीनों अवरोधों को तोड़ने पर ही हो सकता है।

प्रेक्षा-ध्यान समाधि तक पहुंचने की प्रक्रिया है। समाधि तक पहुंचने के लिए व्याधि, आधि और उपाधि को देखना, समझना और उन पर नियंत्रण करना होता है। प्रेक्षा-ध्यान यह सब करने के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करता है। प्रेक्षा जागे, दर्शन की शक्ति विकसित हो, संकल्प की शक्ति जागे, परिवर्तन का सामर्थ्य बढ़े और परम आनंद—समाधि का अनुभव हो। ❖

पारलौकिक ही नहीं अहिंसा और मुक्ति

जैनेंद्रकुमार

सच यह है कि उस अहिंसा को हमने शास्त्रीय बनाकर निकम्मा कर दिया है। अपनी निष्क्रियता से उस शब्द के तेज को ही हमने नष्ट कर दिया है। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पण का तत्त्व डाल कर ही हम उस अहिंसा को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। किताब की अहिंसा तो यूरोप की 'लाइब्रेरियों' में भी बंद है। मांग उस अहिंसा की है जो जीवन में ज्वलंत हो। वही विश्व की पुनर्रचना के संबंध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आवश्यकता है। बारूद के और वाद-विवाद के धुएं से अंधेरा छाया हुआ है। इस अंधेरे में आपा-धापी ही चल सकती है। अरे, इस अंधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है। ऐसे में प्रकाश चाहिए। यदि आपके भगवान महावीर ने प्रकाश के स्रोत को पाया था तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलने वाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश को जगत् के सम्मुख करना होगा।

बार-बार यह प्रश्न होता रहता है कि जीवन-मुक्ति अथवा मोक्ष क्या है? यह प्रश्न किसी शास्त्रीय तत्त्व की जिज्ञासा में से नहीं बना है। जीवन की आवश्यकता में से ही उपस्थित हुआ है और उसका उत्तर हर बार उत्तरोत्तर स्पष्ट रूप में अपने भीतर से मुझे यही मिला है कि जीवन की मुक्ति अहिंसा में है।

अहिंसा में कहा है, अहिंसा द्वारा नहीं कहा। कारण, अहिंसा साधन या सीढ़ी नहीं है जो कभी अनावश्यक हो जाए। वह एक ही साथ साध्य भी है, जिसकी आवश्यकता कभी निश्शेष न हो। उसका प्रयोग सर्वव्यापी है। उसे लांघा नहीं जा सकता। इस अर्थ में वह परमधर्म है। वह कोई अचल स्थिति नहीं है, सतत क्रियमाणता है। उसमें गति को अनंत अवकाश है। अर्थात् कोई यह नहीं कह सकता कि वह अहिंसक है, कह यही सकता है कि अहिंसा का प्रयासी साधक है। इसी अपेक्षा में 'अहिंसा द्वारा' की जगह 'अहिंसा में' मुक्ति की उपलब्धि है, यह कहना अधिक यथार्थ मालूम होता है। ये शब्द कुछ भारी और व्यवहार से दूर गए हुए-से लग सकते हैं, पर असल में ऐसा नहीं है। सच पूछिए तो नित्य-प्रति के व्यवहार के प्रश्नों को लेकर इन शब्दों की सत्यता मेरे लिए और भी अनिवार्यता से प्रकट हो आती है।

मुक्ति और मोक्ष शब्दों में ध्वनि कुछ शास्त्रीय-सी आ जाती है। क्या हर समय हम अपने को बंधन में नहीं अनुभव करते? क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र के रूप में हम स्वतंत्रता के लिए ही नहीं छटपटाया करते? क्या हर कोई—व्यक्ति, दल, देश या साम्राज्य—परिस्थितियों से अपने को जकड़ा हुआ ही नहीं पाता और उनसे आजाद हो जाना नहीं चाहता? क्या हम कह सकते हैं कि जो विग्रह और संघर्ष हमारे कौटुंबिक, सामाजिक और विश्वव्यापी जीवन को अशांत और अस्त-व्यस्त किए हुए हैं, वे अपनी-अपनी स्वतंत्रता की इच्छा और चेष्टा में से ही हमने नहीं उपजा लिए हैं? और क्या अंततः उनसे मुक्ति ही हम नहीं चाहते हैं?

इस तरह मुक्ति कोई पारलौकिक लक्ष्य नहीं, हमारे हर कर्म और क्षण की आवश्यकता है। ऐहिक और लौकिक लक्ष्य भी उससे दूसरा नहीं है।

किंतु, समस्या भी ठीक इसी जगह है। जगत् में असंख्य जीव हैं।

सबको स्वतंत्रता चाहिए। मैं अपनी और तुम अपनी स्वतंत्रता चाहते हो। इसमें संघर्ष आता है और शिष्ट व्यवहार से यह सूत्र निकलता है कि जहां से दूसरे की स्वतंत्रता का आरंभ है वहीं एक की स्वतंत्रता की सीमा है।

अब विचारणीय है कि जो सीमित है, क्या वह स्वतंत्रता सच्ची हो सकती है? इसलिए व्यवहार में वह सूत्र कभी पूरा नहीं उतरता है। सीमाओं पर लोगों की अलग-अलग स्वतंत्रताएं सदा ही रगड़ खाया करती हैं और इस प्रकार नए-नए युद्धों को जन्म मिलता रहता है।

कहते हैं कि राज्य में एक राजा और जंगल में एक शेर रह सकता है। यानी उस राज्य में यदि कोई स्वतंत्र है तो वह एक राजा, और जंगल में कोई आजाद है तो शेर। स्पष्ट है कि पेड़ों के और राजनीति के जंगल की यह स्वतंत्रता शेष सबकी परतंत्रता के आश्रय पर ही एक के लिए संभव बनती है। स्पष्ट ही मेरी स्वतंत्रता पूर्ण तभी है कि जब तुम या कोई ऐसा न रहे जो मेरे रहते अपने को गिने; इसी तरह तुम्हारी स्वतंत्रता यह चाहेगी कि कोई दूसरा ऐसा न रह जाए कि जो तुम्हारे रहते अपने को स्वतंत्र माने। इस पद्धति से दूसरे की पराजय में एक की सफलता और उसको पराधीन रखने में अपनी स्वाधीनता है। सचमुच यह प्रतिपादन करने वाला एक जीवन-दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। इष्ट उसे भी मुक्ति है, पर वह उसकी सिद्धि संघर्ष में से देखता है। युद्ध उसका माध्यम है; राजनीति उसका क्षेत्र है, वह अहं-शक्ति को प्रबल से प्रबलतर, यहां तक कि अद्वितीय, बनाकर व्यक्ति को अपनी मुक्ति सिद्ध करने का मार्ग दिखाता है। वहां व्यक्ति लाखों को अपनी आज्ञा में लेकर, उनके ऊपर बैठकर, अपने को बंधन-हीन अनुभव कर सकता है। इसी को प्रकृति-विज्ञान माना जाता है। इसमें जीव जीव का भोजन है और बल ही न्याय है। यहां सबल होना ही एक धर्म और निर्बल होना ही एक पाप है।

समझा जाता है कि अनंत इतिहास में से जीवन का विकास इसी पद्धति से हुआ है। प्रबल जिया है और निर्बल के प्रति दयापालन की बात पर वह रुका नहीं रह गया है। गति इसी प्रकार सिद्ध हुई है और कालचक्र किसी ममता को नहीं जानता है। देखो विधाता को और प्रकृति के विधान को। क्या वह निरंकुश, निर्मम और निरपवाद नहीं है? क्या द्वंद्व ही जगत् का नियम नहीं है? और यदि समस्त प्रकृति का नियम संघर्ष अथवा हिंसा है, तो मानव-समाज का भी नियम उससे दूसरा नहीं हो सकता। यह विचार-दर्शन अत्यंत तर्क-पुष्ट है। बेशक उस तरह तमाम सृष्टि के मध्य में अपने को मानकर उसका आकलन किया जा सकता है। अपनी निजता की भाषा में व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता देखे तो सहसा इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। एकनिष्ठ व्यक्ति दृढ़ संकल्प के द्वारा, दूसरे को कुचलते हुए, विजेता बन गए हैं— इतिहास भी तो यह दिखाता है।

किंतु इसी जगह अटक भी है। यदि जीव अनेक हैं और सबको मुक्ति इष्ट है, तो सच्ची मुक्ति क्या वही न होगी जो दूसरे की सत्ता से टक्कर न ले, बल्कि उसको अपने में समा ले? यह संभव हो सकता है कि दूसरे को दबाकर मैं प्रसन्नता अनुभव करूं, पर दूसरे को बंधन में डालकर जो सुख मुझे प्राप्त होगा उसमें मेरे अपने निज के लिए भी बंधन के तत्त्व गर्भित होंगे। अर्थात् हिंसा के आधार पर प्राप्त हुई स्वतंत्रता अंत में एक प्रकार की परतंत्रता ही सिद्ध हो जाने वाली है। वह सब मुक्ति, जिसकी जड़ में किसी अन्य के लिए बंधन की अनिवार्यता है, असल में मुक्ति नहीं, मात्र एक छल है।

यही स्थल है जहां बुद्धि-भेद देखा जाता है। सावधानता की भी इसी जगह आवश्यकता है। मुक्ति हम दो प्रकार की मान सकते हैं—(1) आकांक्षाओं की मुक्ति, (2) आकांक्षाओं से मुक्ति। आकांक्षाओं की मुक्ति तो असल में और अधिक बंधनों को निमंत्रण देने वाली ही है। आकांक्षाओं से ही मुक्ति है जो मुक्ति सच्ची हो सकती है।

सामान्यतया धन हमको स्वतंत्रता देता है। धन हो तो मन बंधन अनुभव नहीं करता। धन रहते हम जो-चाहे कर सकते हैं। जिसके पास अपार धन है वह अपार स्वतंत्र लगता है। कोई इच्छा नहीं, जिसको वह पूरी न कर सके। धन और प्रभुता है तो मनुष्य की सब कामनाएं सफल हैं। क्या हम ही नहीं अनुभव करते कि हमारे पास और पैसा हो तो हमारी जकड़ ढीली हो आए और हम कुछ अधिक खुल जाएं?

इस जगह हम महावीर और बुद्ध के चरित्र से प्रकाश पा सकते हैं। वे राजकुल में जन्मे, उन्हें क्या सुलभ न था? लेकिन मुक्ति की खोज में उन्होंने सब-कुछ छोड़ा। जो साधारणतया चाहा जाता है, उस सबके संबंध में आत्यंतिक अकिंचनता उन ने स्वीकार की। वे जानबूझकर यहां तक परतंत्र बने कि कोई भिक्षा न दे तो उन्हें भूखा रह जाना पड़े। जिससे सब काम निकलते हैं, उस धन से वे शून्य हो गए। अनुमान कीजिए कि वे इस तरह कितने पराधीन हो गए होंगे। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि मुक्ति का मार्ग उन्होंने ही

हमारे लिए खोला है। शेष महापुरुष भी, जिनको लोग पूजते हैं, उसी एक अनन्य मार्ग पर चले हैं। और हम मानते हैं कि मुक्ति का लाभ और दान किया तो इन श्रेष्ठ और अकिंचन पुरुषों ने ही। वह मुक्ति ऐसी थी कि जिस पर कोई सीमा और समाप्ति न थी। उस मुक्ति में से मानो सभी को कुछ-न-कुछ अंश मिला।

धन से और सत्ता से मिलने वाली स्वतंत्रता, और प्रेम और प्रार्थना में प्राप्त होने वाली मुक्ति के अंतर का क्या हम सबको स्वयं थोड़ा-बहुत अनुभव नहीं है?

पहले में अभिमान फूलता है और अनिवार्य रूप से उसकी फिर प्रतिक्रिया होती है। उससे कषाय की वृद्धि होती है और हमारे मन पर सूक्ष्म बंधन लिपटता जाता है। दूसरे प्रकार की मुक्ति का आनंद अविकल और अंतस्थ है। स्पष्ट है कि कषाय में हम स्वतंत्र नहीं हो सकते, अधिकाधिक बंध ही सकते हैं। अहंकार बढ़ेगा, उतनी ही बंधन की जकड़ कसेगी। अहंकार जातीय या राष्ट्रीय होने से अपने गुण में बदल नहीं जाता। इससे मुक्ति का रूप कुछ वही हो सकता है जहां अहंकार का विसर्जन हो और सब में आत्मौपम्य का विकास हो। यही अहिंसा की साधना है।

बारीकी से देखें तो मानवता का इतिहास अहिंसा की ओर ही बढ़ रहा है। जब हम धन चाहते हैं, तो इसलिए चाहते हैं कि उससे अपने प्रेम को चरितार्थ कर सकें। अर्थात् लोक-कर्म में, जिसमें हिंसा गर्भित है, हम प्रवृत्ति इसी आधार पर कर पाते हैं कि अंतरंग में अपने प्रेम को यानी अहिंसा को निष्पन्न कर सकें। जाने-अनजाने अपने समस्त कर्म-व्यापार की हिंसा में से हम अहिंसा की चरितार्थता की ओर बढ़ रहे हैं। यहां तक कि हिंसक युद्ध भी कुछ-न-कुछ अहिंसा की पहचान की ओर ही हमें बढ़ा जाते हैं।

किंतु आज हम उस जगह पर आ गए हैं जहां यत्न और चेष्टा से हमें अहिंसा की दिशा में पग रखना होगा। वे सब आंदोलन, जो सचमुच स्वतंत्रता को चाहते हैं—चाहे फिर वह व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र की स्वतंत्रता हो—मूल में अहिंसा की परमावश्यकता से विमुख नहीं हो सकते। विमुख होंगे तो अपनी लक्ष्यसिद्धि में तो विफल होंगे ही, साथ में एक गंभीर निराशा के भी शिकार होंगे। अहंता बढ़कर दूसरे की अस्मिता को चुनौती दिए बगैर रह नहीं सकती। इस तरह विकट युद्ध विकटतर युद्ध का बीज ही बो जाएगा। इस विषचक्र की समाप्ति तब तक नहीं है जब तक कोई निश्चित रूप से शस्त्र को फेंक कर अहिंसक निर्भयता को अपना नहीं लेता और सब को अभयदान देता हुआ हिंसा को अपने ऊपर वार करने का निमंत्रण ही नहीं देता।

यही अहिंसा है, जिसका भोजन हिंसा है। जिसे हिंसा से भय नहीं, प्रत्युत् हिंसक से प्रीति है। जो स्वयं अमर है, इससे हिंसा के विकार की क्षणिकता जिसे प्रत्यक्ष है। जिसमें अतुल धैर्य है और जीवन के प्रत्येक खंड के प्रति जिसमें करुणा है।

इस अहिंसा का विचार जरूरी बनाता है कि हम अहिंसक समाज-रचना की पूरी परिकल्पना उपस्थित करें। इतना ही नहीं, बल्कि अपने बीच तदनुकूल समाज संघटन का निर्माण करें। अहिंसा यदि अन्य सद्‌गुणों की भांति केवल एक सद्‌गुण ही नहीं, बल्कि धर्म है—यानी सृष्टि में मूलभूत एक शाश्वत नियम है—तो आवश्यक है कि जो लोग उस अहिंसा में निष्ठा रखते हैं, वे नवजीवन के निर्माण में सचेष्ट हों। महायुद्ध के बाद सचमुच दुनिया को बदल कर रहना है। इस विभीषिका में से नव-जन्म का आविर्भाव होना है, दुनिया को नए सिरे से बनाने का सवाल आने वाला है। राजनीति और समाजनीति की पुरानी भूमिकाएं हिल गई हैं। उनका मानो दिवाला निकल चुका है। मेरा विश्वास है कि विचारकों को बरबस उस सनातन सत्य—अहिंसा की ओर लौट कर आना पड़ेगा। सच यह है कि उस अहिंसा को हमने शास्त्रीय बनाकर निकम्मा कर दिया है। अपनी निष्क्रियता से उस शब्द के तेज को ही हमने नष्ट कर दिया है। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पण का तत्त्व डाल कर ही हम उस अहिंसा को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। किताब की अहिंसा तो यूरोप की 'लाइब्रेरियों' में भी बंद है। मांग उस अहिंसा की है जो जीवन में ज्वलंत हो। वही विश्व की पुनर्रचना के संबंध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आवश्यकता है। बारूद के और वाद-विवाद के धुएं से अंधेरा छाया हुआ है। इस अंधेरे में आपा-धापी ही चल सकती है। अरे, इस अंधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है। ऐसे में प्रकाश चाहिए। यदि आपके भगवान महावीर ने प्रकाश के स्रोत को पाया था तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलने वाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश को जगत् के सम्मुख करना होगा।

सच, इस समय बुद्ध और महावीर के धर्म को जो मानते हैं, उनका बोझ भारी है। वे चाहें तो उस बोझ को पटक सकते हैं। लेकिन अगर वे उसको उठाए ही रखना चाहते हैं, और चाहते हैं कि वे महावीर के अनुयाई माने जाएं, तो जरूरी हो जाता है कि वे उनकी ज्योति से अपने जीवन को उजला भी करें। ❖

व्यक्ति, पदार्थ और अध्यात्म

मुनि राकेशकुमार

यह धारणा व्याप्त है कि आध्यात्मिक साधकों और दार्शनिकों ने भौतिक पदार्थों का सर्वथा निषेध किया है। ऐसी धारणा यथार्थ से काफी परे है। उन्होंने व्यक्ति के साथ व्यवस्था तथा परमात्मा के साथ पदार्थ पर भी विचार किया है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति को समझने के लिए व्यवस्था तथा अध्यात्म को समझने के लिए व्यवहार को समझना आवश्यक है। अध्यात्म की भाषा में भौतिक वस्तुओं को जो मायाजाल कहा है, वह उनकी अस्थिरता और क्षणभंगुरता का विवेचन और प्रतिपादन है कि जिससे हमारे मन में उनके प्रति आसक्ति और मूर्च्छा का बंधन नहीं रहे। जिन लोगों ने व्यक्ति और व्यवस्था, परमात्मा और पदार्थ तथा अध्यात्म और व्यवहार के चिंतन में एकांतवाद का आग्रह किया है, किसी एक को स्वीकार और किसी एक का निषेध किया है, सचमुच उन्होंने दोनों के ही साथ न्याय नहीं किया है।

भौतिक पदार्थों का महत्त्व हर व्यक्ति के लिए है। उनके बिना जीवन-निर्वाह करना संभव नहीं है। भोजन, पानी, वस्त्र, मकान आदि अनिवार्य आवश्यकताएं हैं। पर, आज दृष्टि-विपर्यास हो रहा है। उपभोक्तावादी संस्कृति के नशे में मनुष्य मूर्च्छाग्रस्त है और उसकी विवेक-चेतना लुप्त होती जा रही है। पदार्थवाद का साम्राज्य अपना संजाल फैला रहा है। इससे सामाजिक स्तर पर नाना प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। दूसरी ओर अध्यात्म दर्शन में व्यक्ति और पदार्थ के मध्य समन्वयकारी संबंधों को सेतु बनाकर जो नवनीत प्रस्तुत किया गया है, उसका रसास्वादन मानवता के लिए स्वास्थ्यवर्धक और कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

यह धारणा व्याप्त है कि आध्यात्मिक साधकों और दार्शनिकों ने भौतिक पदार्थों का सर्वथा निषेध किया है। ऐसी धारणा यथार्थ से काफी परे है। उन्होंने व्यक्ति के साथ व्यवस्था तथा परमात्मा के साथ पदार्थ पर भी विचार किया है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति को समझने के लिए व्यवस्था तथा अध्यात्म को समझने के लिए व्यवहार को समझना आवश्यक है। अध्यात्म की भाषा में भौतिक वस्तुओं को जो मायाजाल कहा है, वह उनकी अस्थिरता और क्षणभंगुरता का विवेचन और प्रतिपादन है कि जिससे हमारे मन में उनके प्रति आसक्ति और मूर्च्छा का बंधन नहीं रहे। जिन लोगों ने व्यक्ति और व्यवस्था, परमात्मा और पदार्थ तथा अध्यात्म और व्यवहार के चिंतन में एकांतवाद का आग्रह किया है, किसी एक को स्वीकार और किसी एक का निषेध किया है, सचमुच उन्होंने दोनों के ही साथ न्याय नहीं किया है।

हमारे सोचने, बोलने व सांस लेने की प्रवृत्तियां भी भौतिक पदार्थों पर निर्भर हैं। उनके सहयोग व आलंबन के बिना हम एक क्षण भी नहीं जी सकते। इस प्रसंग में जैन दर्शन में प्रतिपादित आठ प्रकार की पुद्‌गल वर्गणाओं का विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति और पदार्थ के संबंध में प्रकाश डालते हुए आध्यात्मिक मनीषियों ने साध्य और साधन की विशद चर्चा प्रस्तुत की है। उनके चिंतन के अनुसार पदार्थ हमारे लिए साधन हैं, साध्य नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया गया है कि भोजन, वस्त्र आदि हमारे लिए हैं, हम उनके लिए नहीं हैं। भवन में हम निवास करते हैं, वाहन के रूप में

मोटरगाड़ी का उपयोग होता है, पर भवन किसी के मन में निवास नहीं करे। किसी के विचारों और सपनों पर मोटर गाड़ी आरूढ़ नहीं रहे—यह विवेक जरूरी है। मानसिक तनाव वर्तमान युग की ज्वलंत समस्या है। इसके निवारण के लिए दुर्भाग्य से बहुत-से लोग नशीले पदार्थों का सेवन करते हैं। मनोरंजन के नकली साधनों का प्रयोग भी किया जाता है। यदि साध्य और साधन का उपरोक्त चिंतन आत्मसात हो जाये तो द्वंद्वों और तनावों से सहज ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

भर्तृहरि ने लिखा है—जो भौतिक वस्तुओं और उपकरणों को जीवन का सर्वस्व और साध्य मानते हैं, वे मानसिक दृष्टि से पराधीन होते हैं। वे पदार्थ का उपयोग नहीं करते, पदार्थ उनका उपयोग करते हैं। एक राजा महात्मा के ज्ञान से बहुत प्रभावित हुआ। उसने महलों में रहकर ज्ञान सुनाने का निवेदन किया। महात्मा ने उसका आग्रह स्वीकार कर लिया। दो सप्ताह तक राजा ज्ञान सुनता रहा। अचानक उसके मन में एक विचार कौंधा। सोचा, मैं भी महल में रहता हूं, महात्मा भी महल में रहता है। दोनों में कोई अंतर नहीं है, इस स्थिति में ज्ञान सुनना निरर्थक है। दूसरे दिन सत्संग के बाद राजा ने कहा—अभी मेरे पास अवकाश नहीं है, जब समय होगा तब आपसे फिर निवेदन करूंगा। यह सुनते ही महात्मा वहां से विदा हो गया। राजा देखता ही रह गया। वह दरवाजे तक छोड़ने आया। महात्मा जब प्रस्थान करने लगे, तब राजा ने पूछ ही लिया—महात्मा जी! आपको राजप्रासाद छोड़ते हुए क्या पीड़ा का अनुभव नहीं हो रहा? महात्मा ने कहा—मैं राजप्रासाद में रहा था, इसलिए मुझे कष्ट का अनुभव नहीं होता। राजा इस उत्तर का हार्द नहीं समझ सका। फिर बोला—राजमहल में तो मैं भी रहता हूं। मुझे महल का त्याग करना पड़ेगा तो बहुत कष्ट होगा। महात्मा ने कहा—राजन! तुम महल में नहीं रहते, महल तुम्हारे में रहता है। इसलिए तुम्हें छोड़ते हुए कष्ट का अनुभव होगा। यदि तुम महल में मेरी तरह रहना सीख जाओ तो रहने और छोड़ने में कोई अंतर प्रतीत नहीं होगा। इस एक सूत्र से राजा की दृष्टि का परिवर्तन हो गया। वह महात्मा के चरणों में गिर पड़ा और अविनय के लिए क्षमायाचना करने लगा।

जो साध्य और साधन का भेद समझता है, उसके लिए राजमहल भी तपोवन बन जाते हैं, शांतिस्थल बन जाते हैं। जो इस तथ्य को नहीं समझता है, उसके लिए शांतिस्थल भी अशांतिस्थल बने रहते हैं। अध्यात्म-दर्शन के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपना सच्चा त्राण और शरण होता है। 'परमात्मानं शरणं प्रव्रजामि' और 'धर्मं शरणं प्रव्रजामि' का यही हार्द है। आज इनके स्थान पर 'पदार्थं शरणं प्रव्रजामि' और 'धनं शरणं प्रव्रजामि' का मंत्रपाठ बढ़ता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप जीवन में नाना प्रकार की व्याधियों और विकृतियों का विस्तार हो रहा है।

हर व्यक्ति भौतिक पदार्थों पर स्वामित्व और अधिकार चाहता है। उसी में वह सुरक्षा का अनुभव करता है। जो उन पर अधिकार करने का प्रयास करता है, वही उनके अधीन हो जाता है। एक ग्वाला गाय की रस्सी पकड़े जंगल में जा रहा था। रास्ते में महात्मा मिल गया। महात्मा ने उस ग्वाले से पूछा—गाय तुम्हारे से बंधी है या तुम गाय से बंधे हो। ग्वाले ने कहा—मेरे हाथों में रस्सी है, गाय मेरे से बंधी है। महात्मा ने कहा—एक बार रस्सी छोड़ दो, यदि गाय तुम्हारे से ही बंधी है तो वह तुम्हारी ओर दौड़ेगी, यदि तुम गाय से बंधे हो तो तुम गाय की ओर दौड़ोगे। महात्मा के गहरे चिंतन को ग्वाला चाहे नहीं समझा हो, पर यह एक शाश्वत सत्य है, जो बांधता है वह स्वयं बंधता है।

इच्छा और आवश्यकता को एक समान समझना भूल है। आवश्यकता की पूर्ति तो हो सकती है, पर इच्छा आकाश के समान अनन्त है। यदि अध्यात्म के द्वारा उसे संयत और परिष्कृत नहीं किया जाए तो वह मनुष्य को नाना प्रकार की मृग-मरीचिका में भटकाती रहती है। आध्यात्मिक चिंतन में पदार्थ के अर्जन, संग्रह और उपयोग—तीनों पर सूक्ष्मता से विचार हुआ है। अर्जन के साधन शुद्ध हों, आवश्यकता से अधिक संग्रह नहीं हो तथा उपयोग में असंयम और प्रदर्शन की मनोवृत्ति नहीं हो। जिनकी आसक्ति और मूढ़ता तीव्र होती है, उनकी विवेक-चेतना मंद हो जाती है। पदार्थ की दौड़ में अंधे होकर वे समाज के शरीर में नाना विकृतियां उत्पन्न करते हैं तथा अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को भी नष्ट करते हैं।

राजा ने एक मनुष्य से कहा—कल सूर्योदय से सूर्यास्त तक तुम अपने पांवों से जितनी धरती को माप लोगे, उतनी धरती मैं तुम्हें दे दूंगा। यह सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। वह रात-भर सो नहीं सका। सूर्योदय होते ही उसने दौड़ना शुरू कर दिया। भूख-प्यास की परवाह किये बिना वह दौड़ता ही गया। विशाल भू-भाग को उसने पांवों से माप लिया, पर सूरज के डूबने के साथ उसकी जिंदगी का सूरज भी डूब गया। दौड़ते-दौड़ते गिरा और उसके प्राण-विहग उड़ गए। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—पदार्थ की प्रतिबद्धता अध्यात्म के विकास में बाधक है। भौतिक वस्तुओं को जीवन-धन से अधिक महत्त्व देना हास्यास्पद है। ❖

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय और जैन दर्शन

साध्वी योगक्षेमप्रभा

जैन तत्त्व-मीमांसा का एक पारिभाषिक शब्द है धर्मास्तिकाय, जो गति-सहायक द्रव्य के रूप में विश्रुत है। पांच अस्तिकाय में प्रथम धर्मास्तिकाय द्रव्य है।[1] प्रज्ञापना के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा—स्वभावतः गतिक्रिया (परिणाम) में परिणत होने वाले जीव और पुद्गलों के स्वभाव (गतिस्वभाव) को धारण करने वाला, उसके स्वभाव का पोषण (पुष्टि) करने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है।[2] अनुयोगचूर्णि में धर्मास्तिकाय को परिभाषित करते हुए कहा गया है—गतिक्रिया परिणत जीव और पुद्गल द्रव्य का उपग्रह करने वाला धर्म द्रव्य है। वह उत्पाद, विनाश एवं ध्रौव्य धर्मयुक्त है, अतः अस्तिकाय है। चूंकि अस्ति शब्द को आचार्य ने ध्रौव्य का वाचक कहा है व काय से उत्पाद-विनाश ध्वनित है।[3] आचार्य हरिभद्र ने अनुयोगवृत्ति में इसकी व्युत्पत्ति में कहा है—स्वभावतः गतिशील जीव और पुद्गल द्रव्य की गति परिणति में जो उसके गति स्वभाव को धारण करता है वह धर्म द्रव्य है।[4] वह प्रदेश संघात रूप होने से अस्तिकाय है। धर्मास्तिकाय एक-प्रदेशी न होकर अनेक प्रदेश (अंशों) वाला है। प्रदेशों का संघात या प्रचय होने से उसे अस्तिकाय कहा जाता है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दोनों अमूर्त होने से इंद्रियगम्य नहीं हैं। अतः इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकती। इनकी सिद्धि आगम प्रमाण व युक्ति (अनुमान) से होती है। आगम इन्हें लोक-अलोक के विभाजक तत्त्व के रूप में स्वीकृत करता है। युक्ति से भी इनके अस्तित्व की सिद्धि होती है। जगत् में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील द्रव्य दो ही हैं। गति और स्थिति दोनों लोकप्रसिद्ध कार्य हैं। कार्य सदैव कारण-सापेक्ष होते हैं। जैसे घट कार्य अपने उपादान मिट्टी व निमित्त तथा सहकारी कारण कुंभकार, चाक आदि की अपेक्षा रखता है, वैसे ही गति स्थिति कार्य में उपादान कारण पुद्गल और जीव स्वयं हैं।

भगवान महावीर के शब्दों में धर्म द्रव्यतः एक द्रव्य है। यह अवर्ण (Colourless), अगंध (Odourless), अरस (Tastless), अस्पर्श (Touchless), अरूपी (Formless) सत्ता है। क्षेत्रावगाह की दृष्टि से यह लोकव्यापी है। धर्मास्तिकाय को लोक-अलोक का विभाजक भी कहा जा सकता है। अनंत आकाश के जितने भाग में धर्म द्रव्य अवस्थित है, वह भाग लोकाकाश कहलाता है। एतदर्थ धर्म द्रव्य लोक-व्यापी है। यह काल की सीमा से परे है। त्रिकालाबाधित सत्ता है जो अतीत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगी। भूत, भावी और वर्तमान—तीनों काल में रहने से यह ध्रुव, शाश्वत, अक्षय, अव्यय (स्वरूपाच्चुति) अवस्थित एवं नित्य है। स्वभाव (गुण) से वह गति-क्रिया उपकारक द्रव्य है।[5]

अगुरुलघुत्व

धर्मास्तिकाय अमूर्त (formless) है। अतः वजन में भारी या हल्का नहीं हो सकता। अरूपी सत्ता होने से वह अगुरुलघु है। पदार्थ दो प्रकार के

हैं—भारयुक्त व भारहीन। भार का संबंध स्पर्श से है। स्पर्श मात्र पुद्‌गल द्रव्य में होता है। शेष द्रव्य भारहीन होने से न भारी हैं और न हल्के। वे अगुरुलघु हैं। धर्मास्तिकाय के संदर्भ में पूछने पर भगवान महावीर ने कहा—वह न भारी है, न हल्का है, न हल्का-भारी है, वह भारहीन (अगुरुलघु) है।[6]

यह असंख्यात प्रदेशी द्रव्य है। वे सभी संपूर्ण, प्रतिपूर्ण, निरवशेष एक-शब्द सूचित हैं। उन समस्त प्रदेशों की एक-वाच्यता धर्मास्तिकाय है।[7] यह अखंड स्कंध रूप है। इसके असंख्यात अविभाज्य सूक्ष्म अंश सिर्फ बुद्धि से कल्पित किए जा सकते हैं। वस्तुभूत स्कंध से अलग नहीं किए जा सकते।

गति शब्द से तात्पर्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना ही नहीं है। यहां गति शब्द क्रियामात्र का द्योतक है। नाड़ी का चलना, हृदय का धड़कना, पलक का झपकना, प्रकाश की गति, मन की गति, तरंगों की कंपन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पंदन आदि सभी गति की परिधि में आते हैं। धर्मास्तिकाय इन सभी में उपकारक है।

गौतम गणधर ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! धर्मास्तिकाय से जीव को क्या लाभ है? समाधान में महावीर ने कहा—गौतम! धर्मास्तिकाय से जीवों के आगमन, गमन, बोलना, उन्मेष, मन, वचन और शरीर की क्रियाएं आदि समस्त चल भाव निष्पन्न होते हैं।[8] यदि यह द्रव्य न होता तो गमनागमन कैसे होता? शब्दों की तरंगें कैसे फैलतीं? आंखों का उन्मेष कैसे होता? चिंतन की क्रिया, स्वरयंत्र की क्रिया, हाथ-पैर का हिलाना, बुलाना और भेजना—आदि क्रियाएं कैसे होती? यह विश्व अचल ही होता। विश्व के सभी चल-भाव धर्मास्तिकाय की सहायता से होते हैं।

धर्मास्तिकायजन्य सहाय के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य कुंदकुंद ने इसे जल व मत्स्य के उदाहरण से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं—धर्मास्तिकाय न स्वयं चलती है और न किसी को चलाती है। वह तो गतिशील जीव पुद्‌गल की गति में केवल साधन है। मछलियों के लिए जल जैसे गति में अनुग्रहशील है, उसी प्रकार जीव पुद्‌गलों के लिए धर्मद्रव्य है।[9] धर्मद्रव्य की गतिरहित अवस्था को उपदर्शित करते हुए वे कहते हैं—धर्मद्रव्य स्थिर सलिल की भांति सहायक है, गतिशील अनिल की तरह नहीं। जैसे स्थिर जल मत्स्यों के लिए उदासीन सहायक है, वैसे ही धर्मद्रव्य जीवपुद्‌गल के लिए साधन है, न कि गतिशील प्रभंजन की तरह, जो पताका की गति में हेतुभूत है। इस संदर्भ में विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न उदाहरणों से धर्मास्तिकायजन्य सहायकत्व को अभिव्यंजित किया है।

सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य नेमिचंद्र, हरिभद्र, अमृतचंद एवं आचार्य तुलसी प्रभृति आचार्यों ने गति उपकारक द्रव्य की व्याख्या करते हुए सलिल-झष उदाहरण ही प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी इस संदर्भ में देखे जाते हैं। कहीं अंधा और यष्टि, ज्ञान व प्रकाश (चक्षुष्मान व्यक्ति के लिए), रेल एवं पटरियां आदि उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। सबकी मीमांसा का लक्ष्य धर्मास्तिकाय को सहायक के कारण के रूप में विवेचित करना है।

रेल और पटरी का उदाहरण आधुनिक संदर्भों में सहज-सुबोध है। जहां मार्ग में पटरी है, रेल वहीं चलती है। बिना पटरी के उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। वैसे ही धर्मद्रव्य के अभाव में जीव और पुद्‌गल लोक-सीमा से परे अलोक में गति नहीं कर सकते। कहीं गतिप्रेरक तत्त्व के रूप में वायु को सहायक माना है, पर वायु को सहायक मानने से अनवस्था दोष का प्रसंग आता है।[10]

अधर्मास्तिकाय

लोक-व्यवस्था के आधारभूत द्रव्यों में दूसरा द्रव्य है—अधर्मास्तिकाय अथवा अधर्मद्रव्य। लोक-व्यवहार में अधर्म शब्द पाप या बुरे कर्मों के लिए प्रयुक्त होता है। नीतिवाक्य, मनुस्मृति, भगवद्‌गीता आदि ग्रंथों में अधर्म शब्द पापकारी प्रवृत्तियों के लिए व्यवहृत हुआ है। जैन आचार मीमांसा या मोक्षशास्त्र में अधर्म शब्द अशुभ का द्योतक है। सूत्रकृतांगचूर्णि में वस्तु-स्वभाव के विपरीत अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।[11]

जैन दर्शन में आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म और अधर्म शब्द आत्म-विकास के साधक और बाधक तत्त्वों के रूप में है। तत्त्वमीमांसा में इनका प्रयोग सर्वथा भिन्न अर्थ का बोधक है। अधर्मद्रव्य गतिपूर्वक स्थितिशील पदार्थों, जीव और पुद्‌गल की स्थिति में अनन्य सहायक द्रव्य है। जैसे धर्मास्तिकाय गति का माध्यम है। उसके विपरीत अधर्मास्तिकाय स्थिति का हेतु है।

धर्मास्तिकाय की भांति अधर्म द्रव्य भी निष्क्रिय है। यह असंख्यात प्रदेशी है। पर, उसके प्रदेश द्रव्य से विलग न होकर एक स्कंध रूप अखंड द्रव्य है। अधर्मास्तिकाय व

धर्मास्तिकाय दोनों लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर अवस्थित हैं, व्याप्त हैं। समान परिमाणयुक्त होते हुए भी पृथक् अस्तित्व वाले हैं। एक क्षेत्रावस्थिति होने पर भी अवगाहन शक्ति के योग से उनके प्रदेश परस्पर प्रविष्ट हो व्याघात को प्राप्त नहीं होते।

अधर्मास्तिकायजनित सहाय का स्वरूप

अधर्मास्तिकायजनित सहायता के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए आचार्य कुंदकुंद ने कहा—धर्मास्तिकाय की भांति अधर्मास्तिकाय भी पदार्थों की स्थिति में उदासीन हेतु है। वह किसी को ठहराता नहीं, मात्र उनके ठहरने में सहयोग करता है—जैसे अश्व को पृथ्वी। अधर्मद्रव्य उदासीन हेतु होते हुए भी अनिवार्य है। क्योंकि इसके बिना जीव और पुद्‌गल की गति में नियमन नहीं हो सकता।[12] आचार्य नेमिचंद्र, आचार्य तुलसी आदि अनेक आचार्यों ने अधर्मास्तिकायजन्य सहाय को निदर्शित करते हुए उसे तप्त पथिक के लिए छाया के उदाहरण से स्पष्ट किया है।

अधर्मास्तिकाय के उपकार को दर्शाते हुए भगवान महावीर ने कहा—स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? कौन मौन होता? निस्पंद कौन होता? आंखों का मूंदना कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर हैं—उन सबका आलंबन स्थिति सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय ही है।[13]

धर्म और अधर्म की अस्तित्व-सिद्धि

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दोनों अमूर्त होने से इंद्रियगम्य नहीं हैं। अतः इनकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकती। इनकी सिद्धि आगम प्रमाण व युक्ति (अनुमान) से होती है। आगम इन्हें लोक-अलोक के विभाजक तत्त्व के रूप में स्वीकृत करता है। युक्ति से भी इनके अस्तित्व की सिद्धि होती है। जगत् में गतिशील और गतिपूर्वक स्थितिशील द्रव्य दो ही हैं। गति और स्थिति दोनों लोकप्रसिद्ध कार्य हैं। कार्य सदैव कारण-सापेक्ष होते हैं। जैसे घट कार्य अपने उपादान मिट्टी व निमित्त तथा सहकारी कारण कुंभकार, चाक आदि की अपेक्षा रखता है, वैसे ही गति-स्थिति कार्य में उपादान कारण पुद्‌गल और जीव स्वयं हैं। चूंकि ये दोनों गतिशील हैं, गतिक्रिया में समर्थ हैं—गति-स्थिति में अनन्य सहयोगी ये दोनों द्रव्य हैं। यह सर्वविदित है कि कार्योत्पत्ति में निमित्त कारण अत्यंत अपेक्षित है। वह उपादान कारण से भिन्न होना ही चाहिए, इसलिए जीव-पुद्‌गल की गति में धर्मास्तिकाय व स्थिति में अधर्मास्तिकाय की सिद्धि हो जाती है।[14]

प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने कारण के रूप में आदि अगतिशील चालक (The first unmoved mover) की सत्ता स्वीकार की है।[15] पाश्चात्य परंपरा में दो विचारधाराएं प्रमुख हैं। विचारकों/दार्शनिकों का एक समूह वह, जो स्थिरता के सिद्धांत (Theory of bring) में विश्वास करता है। प्रत्ययवादी दार्शनिक, चाहे प्राचीन हो या आधुनिक, सभी सर्वत्र गति की वास्तविकता को अस्वीकार करते हैं। उदाहरणतः ज़ेनों (Zeno) ने गति की वास्तविकता के विरुद्ध प्रसिद्ध तर्क—Achilles argument का प्रयोग किया है। उसके अनुसार गति मात्र कल्पना है, यथार्थ नहीं है। दूसरी ओर हेराक्लाइट्स आदि स्थिति की वास्तविकता को नकारते हैं। उनके अनुसार गति की अंतहीन प्रक्रिया सृष्टि में अनवरत चल रही है।[16]

धर्म और अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के दो मुख्य यौक्तिक आधार हैं।[17] 1. गति-स्थिति निमित्तक द्रव्य, 2. लोक-अलोक की विभाजक शक्ति।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, प्रत्येक कार्य की निष्पत्ति में कारणों की अपेक्षा रहती है। गति-स्थिति में उपादान जीव और पुद्‌गल स्वयं हैं। जीव और पुद्‌गल पूरे लोक में हैं और वे गति करते हैं। गति में निमित्त एक ऐसे कारण की अपेक्षा है जो गति-स्थिति में सहायक बन सके तथा संपूर्ण लोक में व्याप्त हो, स्वयं गतिशून्य हो। हवा को निमित्त मानने पर फिर प्रश्न खड़ा होता है कि हवा की गति में सहायक कौन? यहां अनवस्था दोष (Infinite regress) का प्रसंग आता है। यदि स्थिर द्रव्यों को निमित्त मानें तो वे समस्त लोकव्यापी नहीं हैं। अतः प्रज्ञापना के टीकाकार कहते हैं कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ऐसे द्रव्य हैं जो समस्त लोक में व्याप्त हैं। गतिक्रिया शून्य हैं तथा पदार्थों की गति में अनन्य सहायक हैं।

आचार्य मलयगिरि के अनुसार धर्म-अधर्म द्रव्य के बिना लोक-अलोक की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। यदि आकाश को गति-स्थिति का हेतु मानें तो ऊर्ध्वगति करने वाले सिद्ध कहां ठहरेंगे? वे ऊंचे से ऊंचे गति करते ही रहेंगे। आकाश अनंत है, अतः अनंत काल तक वे गतिशील ही रहेंगे। आकाश को गति-स्थिति का हेतु मानने से एक

और कठिनाई यह होगी कि आकाश दोनों में समान होने से जीव पुद्‌गल सर्वत्र गति करने में समर्थ होंगे, फिर अलोक हानि का प्रसंग उपस्थित होगा व लोक के छोर की परिवृद्धि हो जाएगी, नियत संस्थान का लोप होगा।[18]

धर्म-अधर्म द्रव्य की अपेक्षा को प्रकट करते हुए पंडित सुखलाल जी कहते हैं—जड़ और चेतन द्रव्य की गतिशीलता अनुभवसिद्ध है। यदि कोई नियामक तत्त्व न हो तो वे द्रव्य अपनी सहज गति से अनंत आकाश में कहीं भी जा सकते हैं। वे सचमुच अनंत आकाश में चले जाएं तो इस दृश्यादृश्य विश्व का नियत संस्थान, जो सदा सामान्य रूप से एक-सा नजर आता है, वह किसी भी तरह घटित नहीं होगा। अनंत पुद्‌गल और अनंत जीव-इकाइयां भी अनंत आकाश में बेरोकटोक संचरित होने से ऐसे पृथक् हो जाएंगी कि जिनका पुनः मिलना और नियत सृष्टि के रूप में नजर आना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य हो जाएगा। यही कारण है कि गति-मर्यादा को नियंत्रित करने वाले तत्त्व धर्मास्तिकाय को जैन दर्शन स्वीकार करता है, तदुपरांत तुल्य युक्ति से स्थिति-मर्यादा के नियामक के रूप में अधर्मास्तिकाय तत्त्व को भी स्वीकार कर लेता है।[19]

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय में परिणमन

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय दोनों निष्क्रिय द्रव्य हैं, फिर इनमें पर्याय परिणमन रूप क्रिया कैसे संभव है? यदि उनमें उत्पाद व्ययात्मक परिणमन नहीं होगा तो क्या द्रव्यत्व की हानि का प्रसंग उपस्थित नहीं होगा? इसके समाधान में वाचक उमास्वाति कहते हैं कि यहां निष्क्रिय का तात्पर्य गति-क्रिया का निषेध है। परिणमन को स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानंदि कहते हैं—क्रिया के दो प्रकार हैं—परिणाम लक्षणा और परिस्पंदनात्मिका। अस्ति, भवति आदि क्रियाएं परिणमन दर्शाती हैं। धर्मादि द्रव्यों को निष्क्रिय कहने का तात्पर्य परिस्पंदनात्मक क्रिया के निषेध से है। उत्पादव्यय रूप सदृश परिणमन की क्रिया प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय होती रहती है।

ईथर और धर्मास्तिकाय

उन्नीसवीं सदी से पूर्व वैज्ञानिक जगत् में ईथर (Aether) नामक कोई तत्त्व नहीं था। ईथर संबंधी प्राथमिक धारणाओं में उसे एक अभौतिक नहीं, भौतिक पदार्थ माना गया। जिसमें खास प्रकार और परिणाम की लचक और घनता है। डॉ. एफ. एम. डेंटन ने Relativity and commensense में लिखा है। न्यूटन का ईथर सघन है तो उसमें बिना संघर्ष पदार्थ स्वच्छंद गति से भ्रमण करते हैं। यह लोचदार है, परंतु इसके और-और आकार नहीं हो सकते। यह गति करता है, पर इसकी गति दृष्टिगोचर नहीं होती। यह पदार्थों को प्रभावित करता है, पर पदार्थ उसे प्रभावित नहीं करते। इसका कोई मॉस (Mass) नहीं है, न ऐसे कोई अंश हैं जिनसे उसकी पहचान हो सके।

ईथर की स्थिति को समझने के लिए समय-समय पर विविध प्रयोग होते रहे हैं। उन सबमें माइकलसन मोर्ले का प्रयोग सुप्रसिद्ध है। अमेरिका की प्रयोगशाला में यह प्रयोग किया गया जो बाद में मान्य नहीं हुआ व प्रचलित नहीं रह सका। उनके बाद प्रो. डी. मीलर व माउंट विल्सन ने तत्संबंधी पांच हजार सर्वेक्षण किए व यह तथ्य प्रस्तुत किया कि ईथर व पृथ्वी की गति सापेक्ष हैं।[20]

इसके पश्चात् अनेक अन्वेषणों में कभी ईथर का अस्तित्व स्वीकारा गया और कभी नकारा गया। कहीं उसे भौतिक व भारयुक्त पदार्थ माना गया तो कहीं अभौतिक, निष्क्रिय व भारहीन पदार्थ के रूप में उसकी सत्ता स्वीकार की गई। सचाई तो यह है कि वैज्ञानिक न ईथर को पकड़ पाए और न उसे पूरा छोड़ सके। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स के शब्दों में ईथर शक्ति के अपने नाना रूपों में आधुनिक भौतिक विज्ञान में प्रमुख स्थान रखता है। यद्यपि बहुत-से लोग 19वीं सदी के साथ इसकी संगति होने के कारण ईथर के स्थान पर आकाश (Space) को व्यवहार में लाना चाहते हैं।[21]

वे कहते हैं, यद्यपि ईथर और उसके कंपन, लहरें या तरंगें, जो कि विश्व को बनाती हैं, हर संभावना से कल्पित हैं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उनका बिल्कुल अस्तित्व नहीं है। उनका अस्तित्व हमारे मन में है। अन्यथा उन पर सोच-विचार भी नहीं किया जाता।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि अभौतिक गति-माध्यम को (चाहे वह ईथर के रूप में हो) अपेक्षित मानते हुए भी प्रयोगसिद्ध न होने से वैज्ञानिक उसे स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं। कुछ वैज्ञानिक इसकी अनिवार्यता को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टीन का अभिमत है कि लोक परिमित है। उससे परे अलोक अपरिमित। लोक के परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का अभाव है जो गति में सहायक होती है।

शेष पृष्ठ 41 पर

अनुभूति

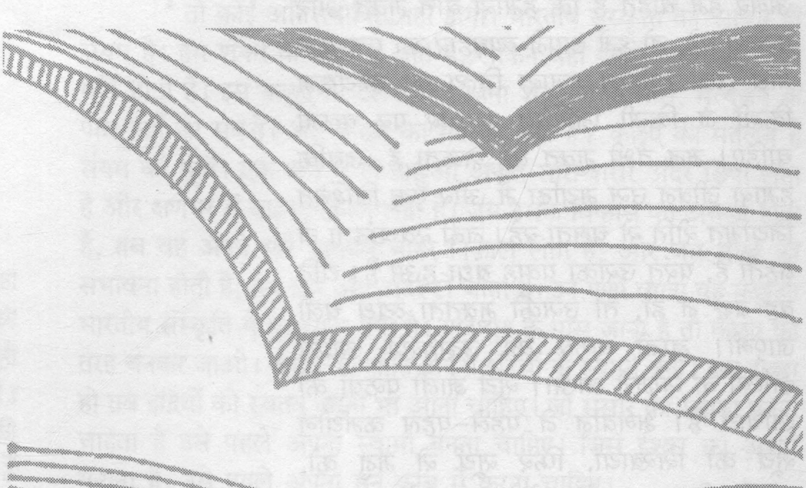

अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे, तो हमें अपने व्यवहार का एक क्रम बांध लेना चाहिए। हमारा नित्य का कार्यक्रम किसी-न-किसी निश्चित आधार पर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है, जबकि हमारा जीवन उस मर्यादा में और एक निश्चित नियमित रीति से चलता रहे। नदी स्वच्छंदता से बहती है, परंतु उसका प्रवाह बंधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो, तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जाएगी। ज्ञानी पुरुष का उदाहरण अपनी आंखों के सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषों का आचार्य है। भगवान ने पहले-पहल कर्मयोग सूर्य को सिखाया, फिर सूर्य से मनु को, अर्थात् विचार करने वाले मनुष्य को वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतंत्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसी में उसकी स्वतंत्रता का सार है।

यह हमारे अनुभव की बात है कि हमें एक निश्चित रास्ते से घूमने जाने की आदत है, तो रास्ते की ओर ध्यान न देते हुए भी मन से विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमने के लिए हम रोज नए-नए रास्ते निकालते रहेंगे, तो सारा ध्यान उन रास्तों में ही लगाना पड़ेगा। फिर मन को मुक्तता नहीं मिल सकती। सारांश यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बांध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा नहीं, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

—**विनोबा**

संयम : एक उत्कृष्ट कर्म; एक शक्ति

पांडुरंग सदाशिव साने

जिनके जीवन का कोई लक्ष्य है, जिनका जीवन सेवा के लिए है, उनको सारे काम परिमाण से करने चाहिए। परिमाण में ही सारी सुंदरता है, परिमाण में ही शोभा है। संयम में सौंदर्य है। बहुत-से, अविवेकी लोग संयम का मजाक उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि 'हम ये बंधन नहीं चाहते', लेकिन जो बंधन अपने-आप अपने ऊपर लगाया जाता है, वह बंधन नहीं है। अपनी इच्छा का गुलाम होना कोई स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ स्वेच्छाचार नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ है विकास, और संयम के बिना विकास नहीं होता।

यदि यह कह दिया जाए कि संयम भारतीय संस्कृति की आत्मा है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भारतीय संस्कृति का आधार ही संयम है। हम शंकर के मंदिर में जाते हैं; लेकिन वहां पहले बाहर कछुए की मूर्ति होती है। इस कछुए के दर्शन किए बिना शंकरजी के पास, मृत्युंजय के पास नहीं जा सकते। और कछुए का मतलब क्या है? कछुए का मतलब है संयम की मूर्ति। एक क्षण में ही कछुआ अपना सारा शरीर अंदर छिपा लेता है और क्षणभर में बाहर निकाल लेता है। जब उसके विकास का अवसर होता है, तब वह अपने सारे अवयव बाहर निकाल लेता है; और जब धोखे की संभावना होती है, तब सारे अंग अंदर ले जाता है। इन गुणों वाला यह कछुआ भारतीय संस्कृति में गुरु माना गया है। यदि गुरु के पास जाना है तो कछुए की तरह बनकर जाओ। कछुए की भांति अपनी इंद्रियों के स्वामी बनो। जब इच्छा हो तब इंद्रियों को स्वतंत्र करना भी आना चाहिए। जो संसार का स्वामी बनना चाहता है उसे पहले अपना स्वामी बनना चाहिए। जिसे ईश्वर को अपना बनाना है, उसे पहले अपना मन काबू में करना चाहिए।

शंकरजी की मूर्ति की कल्पना कीजिए। उनके तीसरा नेत्र है। यह नेत्र दोनों आंखों के बीच में है, और इस नेत्र का काम प्रहरी का है। आंख, कान, जीभ—सारी इंद्रियों पर इस नेत्र की दृष्टि रहती है। इसी तीसरे नेत्र में अग्नि है। हमारे जीवन के विकास में जो विरोधी हैं, उन सबको भस्म कर देने की शक्ति इस नेत्र में है। जब तक यह तीसरा नेत्र खुला नहीं रखा जाता, जीवन में सफलता नहीं मिल सकती।

हमारी आंखें जहां चाहे वहां न चली जाएं, कान जो चाहें वह सुनने न लगें, जबान चाहे जो बोलने न लगे, खाने न लगे, हाथ चाहे जो करने न लगें और पैर जिधर चाहें उधर न जाने लगें। अपनी ध्येयानुकूल बातों की ओर ही हमारी इंद्रियों को जाना चाहिए। इन इंद्रिय-रूपी बैलों को हमारे जीवन-रथ को गड्ढे में न गिराते हुए लक्ष्य की ओर ही ले जाना चाहिए। ज्ञानेश्वरी में योग का वर्णन करते हुए लिखा है :

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

जिसे कर्मयोग की साधना करनी है, उसके लिए यह संयम-योग साधना भी आवश्यक है। योगी का अर्थ है कर्मयोगी। सतत कर्म में मग्न हो जाना। हाथों से लगातार सेवा करते रहना। इसके लिए क्या करना चाहिए?

सब बातें नाप-तोल से करनी चाहिए। तोलकर खाना चाहिए, तोलकर पीना चाहिए, तोलकर बोलना चाहिए, तोलकर चलना और तोलकर नींद लेनी चाहिए। इंद्रियों को सब चीजें देनी चाहिए; लेकिन नाप-तोल से परिमाण के साथ। ऐसा करते रहने से जीवन में प्रसन्नता रहेगी—यह बात केवल काल्पनिक नहीं है। यह तो अनुभवसिद्ध है।

मान लीजिए, हमने ज्यादा खा लिया। अगर पकौड़ी खानी है तो मन में आया उतना खा गए। बासुंदी हुई तो पी गए खूब। तो परिणाम क्या होगा? आलस्य आएगा। अधिक खाया कि अधिक लेटने की इच्छा होगी और इतने से ही बस नहीं होगा। बदहजमी होगी, अजीर्ण होगा, पेट दर्द करने लगेगा और शायद बीमार भी पड़ना पड़ेगा। थोड़ी देर जबान का सुख अनुभव किया, लेकिन आगे तो दस दिनों तक अन्न की रुचि ही नहीं रहेगी। इन आगामी दस दिनों में कोई काम भी नहीं किया जा सकेगा।

रात को गाना हुआ। सुनते रहे दो बजे तक, तो नींद पूरी नहीं हुई। जब नींद पूरी नहीं होगी तो पाचन भी अच्छा नहीं होगा। दूसरे दिन काम भी अच्छा नहीं होगा। काम करते आंखें बंद होने लगेंगी। इस प्रकार कर्म में सफलता नहीं मिलेगी।

जिनके जीवन का कोई लक्ष्य है, जिनका जीवन सेवा के लिए है, उनको सारे काम परिमाण से करने चाहिए। परिमाण में ही सारी सुंदरता है, परिमाण में ही शोभा है। संयम में सौंदर्य है। बहुत-से अविवेकी लोग संयम का मजाक उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि 'हम ये बंधन नहीं चाहते।' लेकिन जो बंधन अपने-आप अपने ऊपर लगाया जाता है, वह बंधन नहीं है। अपनी इच्छा का गुलाम होना कोई स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ स्वेच्छाचार नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ है विकास, और संयम के बिना विकास नहीं होता।

सारी दुनिया को देखिए। सर्वत्र संयम ही दिखाई देगा। वृक्ष को ही लीजिए। यह वृक्ष जड़ों से बंधा हुआ है। यदि वृक्ष कहे कि मैं पृथ्वी के साथ ऐसे क्यों बांधा जाऊं? मुझे आकाश में उड़ने दो। मेरी जड़ तोड़ दो। तो वह मर जाएगा। यदि वृक्ष की जड़ें तोड़ दी जाएं तो क्या वह जिंदा रह सकेगा? वृक्ष जड़ों से बंधा हुआ है। इसी कारण वह ऊंचा होता जाता है। इसी कारण उसमें फल-फूल आते हैं। उसकी संपत्ति का रहस्य उस दृढ़ संयम में ही है।

सितार को लीजिए। सितार में तार होते हैं। अकेले उन तारों को ही जमीन पर रखिए। उन पर अंगुली फिराइए। उनसे कोई ध्वनि नहीं निकलेगी; लेकिन उन्हीं तारों को सितार की खूंटी में बांधिए। अब तो उन बंधनों में जकड़े हुए तारों में से आनंद देने वाला संगीत निकलने लगेगा। वे जड़ तार चैतन्य बन जाते हैं। उनमें से अपार माधुर्य झरने लगता है। संयम में संगीत प्रकट होता है।

नदी को देखिए। यदि पहाड़ों का पानी दसों दिशाओं में बहने लगे तो उससे प्रवाह नहीं बन सकता, लेकिन यदि वह पानी किसी एक खास दिशा में बहने लगे तो उससे प्रवाह प्रकट हो जाता है। प्रवाह को भी किनारों का बंधन होता है। नदी दो किनारों से बंधी हुई है। उन दोनों किनारों में से वह बहती है। यदि वह कहने लगे कि मुझे किनारों के इस बंधन की आवश्यकता नहीं है तो क्या होगा? पानी इधर-उधर फैल जाएगा और चार दिन में सूख जाएगा। नदी को बंधन है इसीलिए उसमें गति है, गहराई और गंभीरता है। उसे बंधन है इसी कारण वह आगे-आगे बहती जाती है और महासागर से मिलती है। उसे बंधन है इसी कारण तो वह हजारों एकड़ जमीन को उपजाऊ बनाती है, उसे सदैव गीला रखती है। बंधन के कारण नदी को अमरता प्राप्त हो गई है। संयम के कारण ही नदी समुद्र में मिल सकती है।

भाप को देखिए। यदि भाप बंधन में न हो तो उसमें शक्ति न रहे। अपनी इच्छा से इधर-उधर जाने वाली भाप कमजोर है। प्रचंड नली में बंद की हुई भाप प्रचंड यंत्र चलाती है, बड़ी-बड़ी गाड़ियां चलाती है।

संयम को तुच्छ मत समझिए। वह आपके विकास के लिए है। वह समाज के हित के लिए है। यदि हम संयम का पालन न करें तो हमारे काम ठीक तरह से नहीं होंगे। यदि काम ठीक तरह नहीं होंगे तो समाज का नुकसान होगा। हम केवल अपने खुद के लिए ही नहीं हैं। यह बात हमें मालूम होनी चाहिए कि हम समाज के लिए हैं। हमारी यह देह, हमारा यह जीवन समाज के लिए है। सारी सृष्टि हमारा पोषण कर रही है। सूर्य प्रकाश देता है, बादल पानी देता है, वृक्ष फल-फूल देते हैं, किसान अनाज देता है, बुनकर वस्त्र देता है, स्कूल शिक्षा देता है। हम इस सारी

सजीव-निर्जीव सृष्टि के आभारी हैं। अतः अपना जीवन उनकी सेवा में अर्पण करना हमारा काम है। यह जीवन जिसका है उसी को सेवा के द्वारा अर्पण करना है। इसलिए इस जीवन में घुन नहीं लगने देना चाहिए। हमारे इस जीवन-पुष्प को समाज-रूपी भगवान को अर्पण करना है, जीवन को रसमय और सुगंधमय बनाना है तो संयम की अत्यंत आवश्यकता है।

इंद्रियों को उत्तरोत्तर उदात्त आनंद प्राप्त करने की आदत डालनी चाहिए। खाने-पीने का आनंद तो पशु-पक्षी भी उठाते हैं। मनुष्य केवल खाने-पीने के लिए नहीं है। उसे भोजन अवश्य चाहिए; लेकिन वह किसी ध्येय के लिए। खाना-पीना और सोना पूर्णता के ध्येय के साधन बनने चाहिए।

न्यायमूर्ति रानाडे की एक बात बताई जा रही है। उन्हें कलमी आम पसंद थे। एक बार आमों की टोकरी आई। रमाबाई ने आम काटकर न्यायमूर्ति के सामने तश्तरी में रखे। न्यायमूर्ति ने उसमें से एक-दो फांकें खाईं। कुछ देर बाद जब रमाबाई ने आकर देखा तो आम की फांकें उसमें रखी हुई थीं। उन्हें अच्छा नहीं लगा। वह बोलीं, 'आपको आम पसंद हैं, इसलिए मैं इन्हें काटकर लाई। फिर खाते क्यों नहीं?' न्यायमूर्ति ने कहा, 'आम अच्छे लगते हैं, क्या इसका यह मतलब है कि आम ही खाता रहूं! एक फांक खा ली। जीवन में दूसरे आनंद भी हैं।'

खाने-पीने की चर्चा करने में हमारा कितना समय चला जाता है! मानो हम जबान के गुलाम हो गए हैं। लेकिन हमें जानना चाहिए कि मिठास किसी वस्तु में नहीं, हमारे अंदर है। हम अपनी मिठास उस वस्तु में डालते हैं और उस वस्तु को मीठी कहकर खाते हैं। सारी मधुरता हमारे अंतरंग में है। जिसे वह मिठास प्राप्त हो गया है उसे कुछ भी दीजिए, सब-कुछ मीठा-ही-मीठा मालूम होगा।

संसार के सारे महापुरुष संयमी थे। उनका भोजन सादा होता था। पैगंबर मुहम्मद साहब सादी रोटी खाते और पानी पी लेते थे। लेनिन का आहार अत्यंत सादा था। महात्मा गांधी भोजन में पांच वस्तुओं से अधिक वस्तु नहीं खाते थे। यदि महात्माजी का आहार-विहार इस प्रकार नियमित न होता तो वे इतना महान् कार्य न कर सके होते। देशबंधु दास की पत्नी वासंतीदेवी उनकी बहुत चिंता रखती थीं। वह देशबंधु के भोजन का काफी खयाल रखती थीं।

लेकिन इस आहार-विहार के अलावा भी दूसरा संयम है। यदि समाज में आनंद फैलाना है तो इस उदात्त संयम का महत्त्व जितना बताया जाए, उतना कम है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से संयुक्त कुटुंब-प्रणाली बिना संयम के चल ही नहीं सकती। यदि संयम न हो तो दस आदमियों के मुंह दस दिशाओं में हो जाएंगे। यदि कुटुंब का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा को ही प्रधानता देने लगे तो सब लोगों की कैसे पट सकेगी? मनोमालिन्य बढ़ने लगेगा और झगड़ों का सूत्रपात होने लगेगा।

संयुक्त कुटुंब प्रणाली में मुखिया पर बहुत जिम्मेदारी होती है। उसे सबकी मरजी रखनी पड़ती है। उसके लिए उसे बहुत त्याग करना पड़ता है। वह मुखिया अपने बच्चों के लिए अधिक गहने नहीं बनवाएगा। अपनी पत्नी के लिए सबसे पहले अच्छी साड़ियां नहीं खरीदेगा। अपने छोटे भाइयों के बच्चे और उनकी बहुओं का खयाल वह पहले रखेगा। वह उनके लिए कपड़े-गहने आदि पहले लाएगा। ऐसा करने से ही उसके शब्दों का मान रहेगा। तभी कुटुंब के सब लोगों के मन में उसके लिए अपनेपन और आदर की भावना रहेगी। त्याग से इसी प्रकार वैभव मिलता है।

संध्या के समय एक मंत्र बोलते हैं। उसका एक चरण निम्नलिखित है—

सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारम्भे।

अब किसी का विरोध नहीं है। अब मुझे अपना ब्रह्मकर्म प्रारंभ करने दो।

'सबके साथ अविरोध'—ये शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। पहले ब्रह्मचर्य कैसा? पहले स्नान-संध्या कैसे? देवदर्शन कैसा? जप-तप कैसे? पहले समाज में एकता का निर्माण कीजिए, स्नेह का निर्माण कीजिए। मानव-जाति में से विरोध दूर कीजिए। कलह मिटा दीजिए। द्वेष-मत्सर आदि का अंत कर दीजिए और फिर अपने ब्रह्मकर्म को प्रारंभ कीजिए।

इस अविरोध का निर्माण किस प्रकार हो सकेगा? यदि प्रत्येक व्यक्ति संयम के द्वारा अपनी वासना-इच्छा आदि पर जरा लगाम लगाए तो अविरोध का निर्माण होना सुलभ होगा। यदि हारमोनियम का प्रत्येक स्वर जैसा चाहे वैसा चिल्लाने लगे तो संगीत किस प्रकार निकल सकेगा? उन स्वरों को अपनी इच्छा संयत बनानी पड़ेगी। इसी प्रकार यदि मानव-जाति जीवन में ईमानदारी के साथ संगीत-निर्माण करना चाहे तो उसे अपने स्वरों पर संयम रखना चाहिए।

आज भारतीय जीवन में संगीत नहीं है। प्रांत-प्रांत में लड़ाई है। मतभेद हो सकते हैं; लेकिन जब मतभेद में से मत्सर का भूत खड़ा हो जाता है तो डर लगता है। भारत संयुक्त कुटुंब-प्रणाली का एक प्रयोग है। भारत एक राष्ट्र है। पूर्वजों ने कभी भारत के टुकड़ों की कल्पना नहीं की। उन्होंने हमेशा अपनी आंखों के सामने भारतीय ऐक्य की भव्य कल्पना रखी थी। हम स्नान करते समय केवल महाराष्ट्र की नदियों का ही स्मरण नहीं करते, बल्कि सारे भरतखंड की नदियों का स्मरण करते हैं। हम कहते हैं— 'हर हर गंगे यमुने नर्मदे ताप्ती कृष्णा गोदावरी कावेरी।' कलश की पूजा करते हुए उस कलश में हम सारा हिंदुस्तान देखते हैं :

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

इस प्रकार प्रमुख नदियों का हम स्मरण करते हैं।

पूर्वजों की आंखों के सामने अंग, बंग, कलिंग न थे। गुर्जर, विदर्भ, महाराष्ट्र न थे। उनकी आंखों के सामने था भारत। यह बात बड़े गर्व के साथ कही गई—दुर्लभ भारते जन्म।

इस विशाल भारत में अनेक प्रांत हैं। जिस प्रकार बड़े कुटुंब में बहुत-से भाई हैं, इन भाइयों को एक-दूसरे के साथ संयमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। यदि एक ही कुटुंब में रहना है तो, अपनी ढपली अपना राग अलापने से काम नहीं चल सकेगा। अपना-अपना स्वर ऊंचा करने से काम नहीं होगा। भारत को सावधान हो जाना चाहिए और संयुक्त कुटुंब में एक को दूसरे की सुख-सुविधा का खयाल पहले रखना चाहिए। 'पहले मेरा नहीं, पहले तेरा!' जिस प्रकार हमें यह अपने कुटुंब में करना पड़ता है, वैसा ही हमें भारतीय कुटुंब में करना पड़ेगा। भारत में इस प्रकार का दृश्य दिखाई देना चाहिए कि हम एक-दूसरे की मुक्तकंठ से स्तुति कर रहे हैं, एक-दूसरे पर गर्व करते हैं, एक-दूसरे से प्रकाश ग्रहण करते हैं, एक-दूसरे से स्फूर्ति प्राप्त करते हैं और एक-दूसरे का हाथ अपने हाथ में लेते हैं; लेकिन इसके लिए बड़े दिल की जरूरत है। इसके लिए संयम की जरूरत है। अपना अहंकार दूर करना चाहिए।

जो दूसरे के सुख-दुख का विचार करने लगता है, उसके लिए संयम रखना सरल हो जाता है। 'यदि मैंने ऐसा किया तो दूसरे पर इसका क्या असर होगा, यदि मैं इस प्रकार बोला तो इसका क्या परिणाम होगा, ऐसा लिखने से व्यर्थ ही मन तो न दुखेगा, यदि मैं पैर बजाकर चला तो उससे किसी की नींद में बाधा तो न आएगी, यदि रात के समय जोर-जोर से बात करते हुए या गाना गाते हुए चला तो उससे किसी को कष्ट तो न होगा, सभा में यदि हम आपस में बातचीत करने लग गए तो उससे दूसरे भाषण सुनने वालों को बाधा तो नहीं होगी?' इस प्रकार एक-दो नहीं, सब छोटी-से-छोटी बातों पर हमारा ध्यान रहना चाहिए। लेकिन हमारे देश में तो यह आदत ही नहीं है। दूसरों का विचार क्षणभर के लिए भी हमारे मन में नहीं आता। कारण है सहानुभूति की कमी। जहां सहानुभूति नहीं है, वहां संयम नहीं है।

हम लोगों में यह भावना ही नहीं रही है कि हमारे काम से दूसरे को कष्ट होगा। मानो हम अकेले ही जीवित हैं। हमारे आस-पास कोई नहीं है। इसी भावना से हम सारा व्यवहार करते हैं। पश्चिमी देशों में यह बात नहीं है। उन देशों में सार्वजनिक जीवन में अधिक संयम है। वे रास्ते में व्यर्थ हल्ला नहीं करते। ऐसी कोई बात नहीं करते जिससे दूसरों को कष्ट हो। सर्वत्र आपको व्यवस्थितता दिखाई देगी। बिना संयम के व्यवस्थितपन नहीं आ सकता। जहां संयम नहीं है वहां एकदम अव्यवस्था होगी। अपनी सभा को देखिए, अपने जुलूस देखिए, स्टेशन पर टिकट की जगह देखिए, हर जगह संयमहीन जीवन दिखाई देगा। यदि कोई संयम की बात करता है तो उसकी मजाक उड़ाई जाती है। यदि कोई कहता है कि जरा धीरे बोलिए, तो उसे चट से जवाब दिया जाता है कि चुप रहिए! बड़े सभ्य आए!

हम कोई शब्द एकदम बोल देते हैं और उससे हमेशा के लिए दिल फट जाते हैं। हम अपना कोई मत बिना सोचे-समझे प्रकट करते हैं और हमेशा के लिए वैर पैदा हो जाता है। एक बार टूटे हुए मनों को जोड़ना कठिन हो जाता है। 'टूटा मोती फूटा मन, जोड़ न सकता स्वयं विधाता।' संसार में जोड़ना कठिन है, तोड़ना सरल है। वृक्षों का पोषण करना कठिन है, लेकिन उसे एक ही क्षण में तोड़ा जा सकता है। घर बनाना कठिन है, उसे गिरा देना सरल है। हमें जीवन जोड़ने हैं। वे संयम से ही जोड़े जा सकते हैं। हम भैंसे को छोटा मानते हैं, क्योंकि वह संयमी नहीं है। वह हमेशा मारने के लिए सींग उठाता रहता है, हमेशा आंखें दिखाता है। हम उन्हीं पशुओं की कीमत करते हैं, जो संयमी हैं, जो लगाम लगवाते हैं, गाड़ी में अच्छी तरह चलते हैं, हल ठीक तरह चलाते हैं। जो घोड़ा लगाम नहीं लगवाता, उसे कौन अपने पास रखेगा! उसके लिए कौन पैसे खर्च करेगा! पशुओं को

चमड़े की लगाम लगाई जाती है, लेकिन मनुष्यों को इस प्रकार की लगाम लगाने की जरूरत नहीं है। बुद्धि ही मनुष्य की लगाम है। मनुष्य विचार करके व्यवहार करता है। जो विचारपूर्वक व्यवहार नहीं करता वह मनुष्य नहीं है। संयमी होना मनुष्यत्व का पहला चिह्न है; लेकिन यह चिह्न हमें कितने लोगों के पास दिखाई देगा! संसार में आज लोग शेर और सियार की तरह व्यवहार करते हैं। वे एक-दूसरे को खाने के लिए दौड़ते हैं। अपने को उच्च समझ कर दूसरों को तुच्छ मानते हैं। सर्वत्र संयम का पूरा अभाव दिखाई दे रहा है।

दो पत्थरों को जोड़ने के लिए सीमेंट की जरूरत होती है। जब संयम का सीमेंट लगाया जाएगा तभी जीवन जोड़े जा सकेंगे, एक प्रांत दूसरे प्रांत से और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से जोड़े जा सकेंगे, लेकिन यदि अहंकार रहा तो यह नहीं हो सकेगा। किसी प्रांत का भूतकाल उज्ज्वल होता है; लेकिन यदि उस उज्ज्वल भूतकाल के बल पर हम कदम-कदम पर दूसरों को तुच्छ समझने लगें तो उससे क्या लाभ! ऐसे समय यही अच्छा लगता है कि यदि भूतकाल अच्छा न होता तो ही अच्छा होता। जिस इतिहास से हम घमंडी बनते हैं, हमें लगता है कि हम ही अच्छे हैं और सब मूर्ख हैं, तो उस इतिहास का न होना ही हमें पसंद करना पड़ेगा। हमें भूतकाल के इतिहास से स्फूर्ति मिलनी चाहिए, लेकिन वह पड़ोसी भाई को चिढ़ाने के लिए न हो। राष्ट्र को यह बात अपने खयाल में रखनी चाहिए।

संयम का अर्थ शरणता नहीं है। संयम का अर्थ बावलापन नहीं है। संयम का अर्थ है शक्ति। वह जीवन के विकास के लिए है। वह उत्कृष्ट कर्म करने के लिए है। वह अपने हाथों अपार सेवा करने के लिए है। वह समाज में अधिक आनंद, अधिक संगीत लाने के लिए है। संयम सार्वभौम वस्तु है। ❖

अणुव्रत पुरस्कार

वर्ष 2004 के लिए योग्य अभ्यर्थियों अथवा संस्थाओं के नाम के प्रस्ताव आमंत्रित हैं—जिन्होंने समाज में मानवीय एकता, नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा, अणुव्रत के सिद्धांतों की स्थापना एवं स्वस्थ समाज-संरचना हेतु सघन रूप से कार्य किया हो।

अणुव्रत पुरस्कार एक गरिमामय सम्मान है जिसके अंतर्गत प्रतिवर्ष किसी व्यक्ति अथवा संस्था को पुरस्कार स्वरूप 1,21,000/- सममूल्य की धनराशि, प्रतीक चिह्न, प्रशस्ति-पत्र एवं शाल-सम्मान प्रदान किया जाता है।

प्रस्ताव की अनुशंसा करते समय निर्धारित फॉर्म का उपयोग करें। आपके प्रस्ताव आवश्यक अनुलग्नकों सहित संस्था के कार्यालय में 31 मई, 2005 तक जमा हो जाने चाहिए। फॉर्म एवं नियमावली संस्था के कार्यालय से प्राप्त की जा सकती है।

बनेचंद मालू

प्रबंध न्यासी

जय तुलसी फाउंडेशन

अणुव्रत भवन, 210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002

संपर्क सूत्र : 011-23231373; फैक्स : 011-23231363

महाजनो येन गतः स पंथा

मुनि रतनकुमार

सारा संसार भोजन करता है। भोजन के बिना भी आदमी जी सकता है—इस सत्य को उजागर करने के लिए उन्होंने लंबे समय तक भोजन नहीं किया। उन्होंने प्रतिस्रोत में आगे बढ़ने का निश्चय किया। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋषभ पूरे एक वर्ष तक निराहार रहे। एक वर्ष की अवधि में यह सिद्धांत स्थिर हो गया कि साधना के क्षेत्र में तपस्या का विशेष महत्त्व है। बिना तपस्या सफलता का द्वार नहीं खुल सकता। ऋषभ का मानसिक संकल्प पूरा होने के बाद उन्होंने भिक्षा के लिए घूमना शुरू किया, पर उस समय तक लोग साधुओं को भिक्षा देने की विधि से परिचित नहीं हुए थे।

वर्षीतप : अक्षय तृतीया (11 मई)

भगवान ऋषभ इस युग के प्रथम तीर्थंकर हुए। वे अंतिम कुलकर नाभि के पुत्र थे। कुलकर व्यवस्था एक मोड़ पर पहुंचकर शिथिल होने लगी। नाभि के सामने कठिनाइयां उपस्थित हुईं। उन्होंने अपने पुत्र ऋषभ को व्यवस्था का दायित्व सौंपा। ऋषभ के पास अतींद्रिय ज्ञान था। वे जनता की समस्याओं को समझते थे और उनके समाधान भी जानते थे। उन्होंने देखा—यौगलिक युग समाप्ति के दौर पर है। कल्पवृक्षों से आवश्यकता पूरी करने की बात जमने वाली नहीं रही। लोगों की आकांक्षाएं बढ़ रही हैं। ऐसी स्थिति में व्यवस्था में सुधार अपेक्षित है। व्यवस्था को बदलने का काम स्वयं ऋषभ को करना था।

युग की पहली सबसे बड़ी समस्या थी भोजन की। उसके लिए खेती का विकास हुआ। खेती से प्राप्त अन्न का उपयोग करने के लिए व्यवसाय का क्रम शुरू हुआ। अन्न को दूसरे स्थानों पर भेजते समय लूटमार होने लगी तो उसकी सुरक्षा के लिए क्षत्रियों की नियुक्ति हुई। समाज-व्यवस्था को अच्छे ढंग से संचालित करने के लिए ब्राह्मणों को उपदेशक का दायित्व सौंपा गया। प्राथमिक रूप से इस व्यवस्था के बाद ऋषभ निश्चिंत हो गए थे।

कुछ लोग मिलकर ऋषभ के पास गए। भूख को कैसे शांत करें—अपनी अहम समस्या उनके सामने रखी। ऋषभ ने कृषि-विज्ञान को विस्तार दिया। अन्न उत्पादन की कला सिखाई। कच्चा अन्न पचाने में कठिनाई हुई तो उसे हाथों से मल-मलकर खाने का निर्देश दिया। वह भी पच नहीं सका, तो पानी में भिगोकर खाने के लिए कहा। कुछ दिन इस तरह काम चला, पर उससे भी अजीर्ण होने लगा।

एक दिन कुछ लोगों ने जंगल में आग देखी। वे दौड़े-दौड़े ऋषभ के पास आए और बताया। ऋषभ ने कहा—यह बहुत उपयोगी है। अन्न को इसमें पकाकर खाओ। अन्न को अग्नि में डालने पर वह जलकर भस्म होने लगा। ऋषभ के पास यह समस्या फिर पहुंची। उन्होंने मिट्टी के पात्र बनाने

की कला सिखाई। कृषि का विस्तार होने से अन्न-शोधन की प्रक्रिया में सुधार की अपेक्षा हुई।

इसी बीच पशुपालन का क्रम भी चल पड़ा। ऋषभ ने लोगों को बताया कि अन्न का ढेर बना कर बैलों को उस पर घुमाओ। इस तरीके से अन्न की सफाई हो जाएगी। बैलों को छोड़ा गया तो वे अन्न खाने लगे। कुछ लोग दौड़े। वे ऋषभ के पास पहुंचकर बोले—'बैल स्वयं भूखे हैं। वे पूरा खा लेंगे। हमारे लिए क्या बचेगा?' ऋषभ ने कहा—'छींकी बनाकर उनका मुंह बांध दो।' मुंह बांधने के बाद अन्न खाने की समस्या दूर हो गई। काम पूरा हो जाने पर बैलों को चारा-पानी दिया गया। पर आश्चर्य कि बैलों ने खाना-पीना छोड़ दिया। लोगों के सामने एक नई समस्या खड़ी हो गई। वे दौड़े-दौड़े ऋषभ के पास गए। ऋषभ ने सारी बात सुनकर पूछा—'बैलों के मुंह पर जो छींकी लगाई थी, उसको खोला या नहीं?' लोग बोले—'आपने खोलने के लिए कब कहा था?' ऋषभ का आदेश पाकर छींकी खोल दी गई। बैल चारा-पानी लेने लगे। लोग खुश हो गए।

किंवदंती है कि बैलों के मुंह पर बारह घंटा छींकी रही। बारह घंटे की अंतराय के कारण ऋषभ के जो कर्मबंध हुआ, उसका परिणाम बारह वर्ष तक भोजन न मिलने के रूप में सामने आया।

लोक-जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने की प्रक्रिया बताने के बाद ऋषभ ने समाज-व्यवस्था का समुचित प्रबंध किया। उन्होंने विवाह संस्था की नींव रखी। सुनंदा और सुमंगला उनकी दो रानियां थीं। वे सौ पुत्रों और दो पुत्रियों के पिता बने। परिवार, समाज और राज्य की पूरी व्यवस्थाएं करने के बाद उनको अध्यात्म का पथदर्शन करना था।

अध्यात्म का पथदर्शन :

अध्यात्म का व्यावहारिक पथदर्शन देने के लिए ऋषभ घर छोड़ चल पड़े। उनके साथ हजारों जन हो गए। एक नया दिशादर्शन देने के लिए वे मौन हो गए। ऋषभ की निस्पृहता से साथ चले जन विचलित हो अलग-अलग रास्तों में बिछुड़ गए। ऋषभ अपने-आप में लीन रहे।

सारा संसार भोजन करता है। भोजन के बिना भी आदमी जी सकता है—इस सत्य को उजागर करने के लिए उन्होंने लंबे समय तक भोजन नहीं किया। उन्होंने प्रतिस्रोत में आगे बढ़ने का निश्चय किया। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋषभ पूरे एक वर्ष तक निराहार रहे। एक वर्ष की अवधि में यह सिद्धांत स्थिर हो गया कि साधना के क्षेत्र में तपस्या का विशेष महत्त्व है। बिना तपस्या सफलता का द्वार नहीं खुल सकता। ऋषभ का मानसिक संकल्प पूरा होने के बाद उन्होंने भिक्षा के लिए घूमना शुरू किया, पर उस समय तक लोग साधुओं को भिक्षा देने की विधि से परिचित नहीं हुए थे।

ऋषि की विचित्र चर्या :

ऋषभ गांव-गांव, घर-घर घूमे। कुछ लोग हाथी-घोड़े लेकर आए, तो कुछ स्वर्णमुद्राएं लाए। और तो और, कुछ व्यक्ति कुमारी कन्याओं को ऋषभ पर न्योछावर करने के लिए तैयार हो गए। ऋषभ न रुके, न बोले। वे जैसे आते, वैसे ही चले जाते। लोगों का कुतूहल बढ़ता रहा। वे सोचते रहे कि बाबा के भ्रमण का राज क्या है? ये न कुछ लेते हैं, और न कुछ कहते हैं।

अहो दानम् अहो दानम् :

आखिरकार घूमते-फिरते ऋषभ हस्तिनापुर पहुंचे। वहां उनके प्रपौत्र श्रेयांस ने उनको देखा। उस समय वह अपने स्वप्न के बारे में सोच रहा था। उसने स्वप्न में सुमेरु को अमृत से सींचा था। ऋषभ से साक्षात्कार होते ही स्वप्न पर विचार की तरंगें तीव्र हो गईं। ऋषभ का व्यक्तित्व उसे काफी आकर्षक लगा। उस बिंदु पर एकाग्र होते ही उसे जाति स्मृति का ज्ञान हो गया। उसने जाना कि बाबा ऋषभ भोजन के लिए घूम रहे हैं। इतना जानने के साथ ही वह दौड़कर नीचे आया। ऋषभ के चरणों में झुका और बोला—'प्रभो! पधारो, कृपा करो, कुछ भोजन लो।' श्रेयांस के अनुरोध को स्वीकार कर ऋषभ राजप्रासाद में आए। श्रेयांस ने इधर-उधर देखा। तब तक भोजन बना नहीं था। दूध भी नहीं था। श्रेयांस को भारी संकोच का अनुभव हुआ। पर, सहसा इक्षुरस से भरे घड़ों पर उसकी नजर टिकी। राजघरानों से भेंटस्वरूप आए वे घड़े ज्यों-के-त्यों पड़े थे। श्रेयांस ने पूछा—'प्रभो! इक्षुरस लेंगे?' ऋषभ तैयार थे, पर उनके पास पात्र नहीं था। मुंह पर अंजलि टिकाकर वे खड़े हो गए। श्रेयांस ने घड़ा उठाया और परम श्रद्धा व प्रसन्नता के साथ प्रभु को इक्षुरस पान कराया।

एक वर्ष की लंबी तपस्या का पारणा पूरा हुआ। उसके साथ ही पांच दिव्य प्रकट हुए—सुगंधित जल, पुष्प, वस्त्र, रत्न की वर्षा और 'अहोदान, अहोदान' की घोषणा ने सब लोगों को चौंका दिया। लोग इसी के साथ परस्पर बातें करने लगे—'दूध तो हमारे घर में ही रखा था।' किसी ने

कहा—'हमारे घर में तो मिठाई पड़ी थी। हमारे घर तो पूरा भोजन बन चुका था'—इत्यादि।

उस युग में ऋषभ प्रथम भिक्षाचर बने और श्रेयांस प्रथम दानदाता बने। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। ऋषभ ने उसको अक्षय बना दिया। इसी कारण 'अक्षय तृतीया' का दिन लोकपर्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

महाजनो येन गतः स पंथा

प्रागऐतिहासिक काल का यह प्रसंग आज भी लोक-संस्कृति में व्याप्त है। इसकी जीवंतता का आधार है महान पुरुषों का अनुकरण। 'महाजनो येन गतः स पंथा'—जिस पथ पर महान व्यक्ति चल पड़े, वह पथ सबके लिए प्रशस्त हो जाता है। भगवान ऋषभ ने तपस्या का रास्ता अपनाया और उसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए हजारों लोग एकांतर तप के रूप में 'वर्षीतप' करते हैं। तपस्या के साथ जप, ध्यान, चौविहार, ब्रह्मचर्य का पालन आदि संकल्पों का स्वीकार भी विशिष्ट मनोबल का प्रतीक है।

आत्मशोधन, आत्म-साक्षात्कार व आत्मोपलब्धि के महान उद्देश्य से अनुप्राणित यह पर्व आडंबर, प्रदर्शन और आत्म-ख्यापन के धरातल से ऊपर उठकर नितांत अध्यात्म का आधार बने—यह अपेक्षा है। हजारों-हजारों तपस्वी अक्षय तृतीया के दिन एकांतर वर्षीतप का पारणा कर अपने आराध्य को श्रद्धा का अर्घ्य अर्पित करते हैं। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के
विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं
का स्वागत है।

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

खणं जाणाहि पंडिए

मुनि रमेशकुमार

जीवन का हर नया प्रभात कुछ नया उपहार लेकर आता है। हम उपहार को लेना जानें और समय का मूल्यांकन करना भी सीखें। समय सभी का गुप्त मित्र है और गुप्त रूप से ही वह अमूल्य उपहार लेकर आता है। यदि हम उसका उपयोग नहीं करेंगे तो वह अमूल्य क्षण व्यर्थ चला जाएगा। समय कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं कि जिसे हम कहीं से खरीदकर अथवा मांगकर ले आएं और अपना कार्य करवा लें।

एक भाई को अपने समय का सदुपयोग करने के इरादे से कुछ सद्‌कार्य करने की प्रेरणा दी, पर वह उसे नहीं कर पाया। एक दिन उससे पूछा—क्या बात है, आपने कार्य में कोई रुचि नहीं ली? उसने कहा—'क्या करूं, समय ही नहीं मिलता।' यह सुनकर हैरानी होती है। समय तो हमारे पास ही है। आवश्यकता है कि उसका सही इस्तेमाल करने की कला हममें आए। किसी कार्य में असफल होने वाला व्यक्ति अक्सर अपने समय को कोसता है, पर समय तो सदा लयबद्ध, अपनी गति से ही चलता है। हम उसके साथ मिलकर चलें तो हमें न समयाभाव की कमी महसूस होगी और न असफलता का संताप। अन्यथा यह उक्ति कि—मैंने समय को नष्ट किया और अब समय मुझे नष्ट कर रहा है—कटु यथार्थ की तरह हमारे साथ भी घटित हो सकती है।

समय सतत प्रवाहशील है। वह चलता रहता है। वह किसी के लिए आज तक रुका ही नहीं। पल-पल में वह भूतकाल में परिणत होता जा रहा है। यदि हम इसे वर्तमान में ही पकड़कर अपना कार्य करलें, तो निश्चित ही हर क्षेत्र में हम सफल हो सकते हैं। समय का सही अंकन नहीं करने की वजह से ही लोग पराजित या असफल होकर चिड़चिड़े, असंतुष्ट और तनावयुक्त होते हैं। अतः समय के मूल्य को समझें। समय का मूल्यांकन करें। तभी हम रचनात्मक व सृजनात्मक कार्य कर सकते हैं।

भगवान महावीर ने कहा—'खणं जाणाहि पंडिए'—क्षण को जानने वाला पंडित होता है। अतः आवश्यक है कि हम समय को पहचानें और उसका अंकन करें। जो व्यक्ति समय के मूल्य को जान लेता है, उसका समूचा ध्यान समय की धुरी पर ही केंद्रित रहता है। वह सदा उसी को मूल्य देता है। हम जानते हैं कि बीता हुआ समय कभी लौट कर नहीं आता। कहते हैं कि सुकृत कर्मों के द्वारा मनुष्य जन्म को तो फिर भी प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन समय को नहीं। गया हुआ धन, खोया हुआ स्वास्थ्य, भूली हुई विद्या तथा छीना हुआ राज्य अवश्य हमें वापिस मिल सकता है, किंतु बीता हुआ समय पुनः प्राप्त होना संभव नहीं है।

एक चित्रकार ने एक कार्टून बनाया। उसमें उसने एक चेहरा बनाया

और आगे के हिस्से को बालों से ढंक दिया। सिर को पीछे से गंजा दिखाया और पैरों में पर लगा दिए। उसे देखने वाले चकित हुए। चित्रकार से पूछा गया—यह किसका चित्र है? चित्रकार ने शांति से जवाब दिया—'समय' का। दर्शकों की समझ में फिर भी कुछ नहीं आया। उन्होंने प्रतिप्रश्न किया—'समय का यह चित्र? कैसे?'

तब चित्रकार ने उनकी उत्सुकता शांत करते हुए समझाया—समय का चेहरा ढंका होने से उसका पता नहीं चलता। पीछे से गंजा इसलिए है कि उसे पीछे से पकड़ा नहीं जा सकता और 'पर' यह बताते हैं कि यह तेजी से उड़ने में सक्षम है।

सचमुच वह कार्टून बिलकुल सटीक था। तेज गति से दौड़ रहे समय को पकड़ना असंभव है। समय का उचित उपयोग करना ही समय को पकड़ना है। समय चूक जाने पर पश्चात्ताप करना ही हाथ में रहता है—'का वरषा जब कृषि सुखानी, समय चूकि पुनि का पछतानी?'

एक बहुश्रुत कथन है कि यदि जीवन से प्यार करते हैं तो समय को नष्ट मत करो, क्योंकि समय से ही जीवन बना है। इसी तरह यह मत भी लोक-प्रचलित है कि जीवन का एक घंटा सौ कर्मों की आशा से आता है, इसलिए उसकी एक घड़ी भी व्यर्थ न जाने देनी चाहिए, क्योंकि पल-पल बीतने से वह शीघ्र ही बीत जाएगा। फिर भी काम नहीं हो सकेगा। जैसे ठंडे लोहे के ऊपर हथौड़े की चोट का असर नहीं होता, वैसे ही समय निकल जाने पर कुछ भी नहीं होता है।

समय सतत प्रवाहशील है। वह चलता रहता है। वह किसी के लिए आज तक रुका ही नहीं। पल-पल में वह भूतकाल में परिणत होता जा रहा है। यदि हम इसे वर्तमान में ही पकड़कर अपना कार्य करलें, तो निश्चित ही हर क्षेत्र में हम सफल हो सकते हैं। समय का सही अंकन नहीं करने की वजह से ही लोग पराजित या असफल होकर चिड़चिड़े, असंतुष्ट और तनावग्रस्त होते हैं। अतः समय के मूल्य को समझें। समय का मूल्यांकन करें। तभी हम रचनात्मक व सृजनात्मक कार्य कर सकते हैं। बेंजामिन फ्रैंकलिन के जीवन का एक प्रसंग है। अमेरिका में एक व्यक्ति ने फ्रैंकलिन के सेल्समैन से पूछा—'इस किताब की क्या कीमत है?' उत्तर मिला—'एक डालर'। सवाल—'क्या इससे कम नहीं?'

'नहीं।'

तब उस व्यक्ति ने पूछा—'क्या मिस्टर फ्रैंकलिन अंदर है?'

'हां, यहीं हैं। ....अभी वे काम में लगे हुए हैं।'

'मैं जरा उनसे मिलना चाहता हूं।'

बैंजामिन फ्रेंकलिन को बुलाया गया। खरीददार ने फिर किताब की कीमत पूछी। फ्रैंकलिन ने कहा—'सवा डॉलर!'

'....अरे! अभी तो आपके सेल्समैन ने एक डॉलर कहा था।'

'....ठीक हैं, अपना काम छोड़कर आने में मेरा भी समय खर्च हुआ है।'

खरीददार ने आजिजी करते हुए कहा, 'अच्छा, अब इसका कम-से-कम मूल्य बता दीजिए तो मैं ले लूंगा।'

'....डेढ़ डॉलर!' इस बार का उत्तर चौंकाने वाला था।

'वाह! अभी तो सवा डॉलर ही कह रहे थे?'

'हाँ! मैंने उस समय कहा था। आप जितनी देर करते जाएंगे, किताब की कीमत उतनी ही बढ़ती जाएगी।' फ्रैंकलिन का सपाट-सा उत्तर था।

वह व्यक्ति चुपचाप डेढ़ डॉलर दे, किताब लेकर चला गया। उस आदमी को समय को धन और विद्या में बदल देने की प्रेरणा फ्रैंकलिन से मिली।

जीवन का एक-एक पल कीमती होता है। हम अपने समय को व्यर्थ के कार्यों में लगाने से बचें। कई बार व्यक्ति सोचता तक नहीं कि मुझे क्या करना है? मैं कर क्या रहा हूं? मेरा उद्देश्य क्या है? जैसे, टीवी चला दिया, किंतु यह पता नहीं कि मुझे देखना क्या है? दूकान में प्रवेश किया, लेकिन यह मालूम नहीं कि मुझे खरीदना क्या है? मित्रों के संग चर्चा कर रहे हैं, पर यह पता नहीं कि किस विषय पर चिंतन करना है। आवश्यक और अनावश्यक कार्यों के बीच भेदरेखा न होने के कारण, चाहे-अनचाहे, कई बार व्यक्ति इन परिस्थितियों का शिकार हो जाता है और समय बरबाद करता है।

आज मनोरंजन के नाम पर भी युवा पीढ़ी में जबरदस्त आकर्षण है। बड़े शहरों में जिस स्तर का मनोरंजन हो रहा है, उससे तो लगता है कि जीवन-मूल्यों का ही ह्रास हो रहा है। अतः युवा पीढ़ी को ही यह चिंतन करना होगा कि वे क्या चाहते हैं? अच्छे 'कैरियर' का स्वप्न संजोने वालों को

समय का अकंन करना होगा। मनोरंजन हो या आमोद-प्रमोद, समय के साथ भी संतुलन बैठाना होगा।

यह जरूरी है कि हम अपनी पांचों ज्ञानेंद्रियों को संयम के सूत्र से प्रशिक्षित करें। बार-बार प्रशिक्षण के द्वारा ही हम अपने व्यक्तित्व में निखार ला सकते हैं। दुर्भाग्य है कि आज की युवा पीढ़ी न अच्छा देख रही है, न अच्छा सुन रही है, न ही अच्छा खा रही है। सार्थक क्या है, निरर्थक क्या है—इस के बीच भेदरेखा खींचनी होगी। सार्थकता को ही अधिक प्रश्रय दिया जाना चाहिए। युवा पीढ़ी यह संकल्प करे कि आदर्श जीवन बनाने के लिए सर्वश्रेष्ठ को स्वीकारें। अपने समय का रचनात्मक कार्यों में नियोजन करें। आचार्यश्री तुलसी का कथन है—'जो व्यक्ति समय का अच्छे ढंग से नियोजन करना जानते हैं, वे सब-कुछ करके भी फुरसत में रहते हैं। जो व्यक्ति समय का सही ढंग से नियोजन नहीं कर पाते, उनकी अस्त-व्यस्तता उन्हें अमन-चैन से नहीं जीने देती।'

काल का अविभाजित हिस्सा है समय। यदि हम समय के अंकन की कला में निष्णात हो जाते हैं तो समय भी हमारा अंकन करेगा। जो कार्य जिस समय व जिस विधि से किया जाता है—उसे वैसे ही करें। आगम वाणी में कहा है—'काले कालं समायरे'—ठीक समय पर कार्य करें। समय और कार्य को अलग-अलग विभक्त न करके समय के साथ उसे बांधने से ही कार्य सफल होता है।

समय प्रबंधन के कुछ सूत्रों पर हम गौर करें—

लक्ष्य का निर्धारण

सफलता के लिए लक्ष्य का निर्धारण पहली शर्त है। बिना लक्ष्य के किया जाने वाला कार्य सफल नहीं हो सकता।

प्राथमिक लक्ष्य

लक्ष्य-निर्धारण में इस ओर भी ध्यान केंद्रित करें कि किस कार्य को प्राथमिकता देनी है।

अनिवार्य कार्य का चयन

सर्वप्रथम यह तय करें कि कौनसा कार्य अनिवार्य है, जिसे अभी करना है। कार्य की समयबद्ध योजना बनाकर भी अनिवार्य कार्यों को क्रमबद्ध किया जा सकता है। सर्वप्रथम कौनसा कार्य अनिवार्य है या इस माह में कौनसा कार्य अनिवार्य है—तदनुरूप महत्त्वपूर्ण कार्य को पहले करें।

भाव क्रिया

समय-प्रबंधन के लिए प्रेक्षाध्यान का सूत्र भावक्रिया—एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है। जिस समय जो कार्य कर रहे हैं, उस समय उसी में पूरा ध्यान रहे। भावक्रिया के तीन अर्थ हैं—वर्तमान में जीना, जानते हुए करना एवं सतत जागरूक रहना। चलते समय चलने में, बोलते समय बोलने में, सुनते समय सुनने में ध्यान रखना भावक्रिया है। अतीत की चिंता व भविष्य की कल्पना से मुक्त रहकर वर्तमान में जीने का सतत अभ्यास करना चाहिए।

अस्वीकार करना सीखें

जो 'नहीं' कहना नहीं जानता, वह समय का नियोजन भी नहीं कर सकता। 'ना' कहना भी एक कला है और समय-नियोजन का महत्त्वपूर्ण बिंदु भी है।

समय-प्रबंधन

समय का नियोजन इसलिए आवश्यक है कि हमारा कार्य काल-सापेक्ष होता है। इसी से हमारे समय की बचत होती है, दूसरों के समय की भी बचत होती है।

कार्यसूची निर्माण

समय प्रबंधन के लिए कार्यसूची बनाना भी जरूरी है। सप्ताह में क्या करना है? आज क्या-क्या करना है? माह-भर और पूरे वर्ष में क्या-क्या करना है, इसका निर्धारण अपेक्षित होता है। जिनके पास अनेक तरह के कार्य होते हैं, जो बहुमुखी प्रवृत्तियां चलाते हैं, वे प्रतिदिन के कार्यों की समयबद्ध सूची भी रखते हैं। सफलता के लिए कार्यसूची जरूरी है।

सफलता का आधार है—समय का नियोजन। कहा गया है कि आठ घंटे पेड़ काटने में लगाने हैं तो छह घंटे कुल्हाड़ी को तीक्ष्ण करने में भी लगाओ। यह समय-नियोजन का विवेक है। समय-समय पर अपने कार्यों का निरीक्षण भी करना चाहिए। जहां कमजोरियां नजर आएं, उन्हें दूर करें। कार्य करते समय यह भी ध्यान रहे कि एक ही परिश्रम दो जगह न हो। दायित्व-निर्वाह करने का साहस भी हममें होना चाहिए। समय का अंकन कर हम अपने व्यक्तित्व व कर्तृत्व में निखार ला सकते हैं। अतः यह संकल्प कर लेना चाहिए कि मैं अपनी जीवन-शैली का समयबद्ध नियोजन करूंगा।

❖

वामा

विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय

> *वह औरत बोली—'पंडितजी, अब रसोई बनाकर खा लीजिए। जरा भी मत डरिए। मेरे मायके के नाम-धाम की जब जानकारी हो चुकी है, तब मैं आपको बचा लूंगी। अब सुनिए, खाना खाने के बाद ही मेरे ससुरजी से मेरे मायके का परिचय देकर कहिएगा, आप उनके गुरुवंशज हैं। मेरा नाम लेकर उनसे पूछिएगा, मेरी शादी कहां हुई है, क्या उन्हें इसके बारे में पता है? ऐसा कहते हुए आपका गला न कांपे, जरा भी संदेह का मौका मत दीजिएगा। अब मैं जाती हूं। ससुरजी से आपकी बात हो जाने के बाद मैं फिर आऊंगी। लेकिन ज्यादा देर मत कीजिएगा। विपत्ति कब आ जाए, कहना मुश्किल है।'*

मैं जब तेईस-चौबीस साल का था, तब सौभाग्य से विभिन्न स्थानों में घूमने-फिरने वाला एक काम मुझे मिल गया था। उन दिनों मैं दैव औषधि की ताबीज बेचता हुआ घूमता था। चूंचुड़ा के सचीश कविराज मुझे वेतन और राहखर्च देते थे। कम उम्र की पहली नौकरी थी। मैं बड़े उत्साह से उसे करने लगा।

मुझे साधुओं और सात्त्विक ब्राह्मणों की तरह कपड़े पहनने पड़ते थे। वह उस व्यवसाय का एक अंग था। मेरे पहनावे में गेरू मिट्टी से रंगा कपड़ा होता था और पैरों में कैनवस के जूते। मेरे गले में माला और हाथ में एक कैनवस का थैला रहता था, जिसमें ताबीज और तरह-तरह की दवाएं रहती थीं।

मैंने तीन साल तक वह नौकरी की। इसके बाद सेहत खराब होने की वजह से उसे छोड़ दी।

मैं एक बार वर्धमान जिले के मेमारी स्टेशन से माखमपुर नामक गांव में जा रहा था। उस बार ताबीज बेचना मेरा उद्देश्य नहीं था। माखमपुर में सचीश कविराज की ससुराल थी। उनके ससुर का कोई बेटा न होने के कारण उनकी जमीन-जायदाद के वारिस सचीश बाबू ही थे। उन्होंने मुझे पौष मियाद के लिए वहां से लगान की जो भी किश्त वसूल की जा सकती थी, उसे लेने भेजा था।

इस काम के लिए जाते वक्त भी मैंने गेरुए कपड़े ही पहन रखे थे। मेरे हाथ में ताबीज और दवाओं से भरा कैनवस का थैला भी था कि अगर रास्ते में कहीं भी माल बिक जाए तो मुझे कमीशन का फायदा हो जाएगा।

मैं उस इलाके में कभी नहीं गया था। मेमारी स्टेशन पर उतरकर दो बजे के करीब पैदल चलना शुरू किया तो बस चलता ही रहा। रास्ता खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहा था। एक जगह एक छोटा-सा बाजार पड़ा। वहां कुछ खा-पीकर मैं फिर आगे चल पड़ा।

रास्ते के गांवों में दवा बेचने से मुझे अच्छा-खासा मुनाफा मिल गया था। इसी कारण देर भी हो गई। रास्ते में एक और बाजार पड़ा। वहां पर

दुकानदारों से मुझे पता चला कि मुझे अपने गंतव्य स्थल तक पहुंचने में रात के नौ बज जाएंगे। लेकिन सभी ने मुझसे कहा—'शाम ढलने के बाद फिर आगे मत जाइएगा पंडितजी! इस इलाके में फंदा डालकर जान लेने वाले डाकुओं का बड़ा आतंक है। वे लोग किसी बाहरी आदमी को देखते ही उसे मारकर उसका सब-कुछ छीन लेते हैं। वे अक्सर जंगल के किनारे बड़े-बड़े मैदानों में घात लगाकर बैठे रहते हैं। इस रास्ते पर तीन कोस की दूरी पर एक तालाब पड़ता है। वहां सावधान रहिएगा। वह जगह अच्छी नहीं है।'

मैदान के बीच से होकर गुजरने वाली पगडंडी से मैं आगे बढ़ रहा था। शाम ढलने वाली थी। तभी मुझे कुछ दूर पर ताड़ के पेड़ों से घिरा एक तालाब नजर आया। मेरा दिल धड़कने लगा। तालाब के उस पार संजयपुर गांव था, जहां रात बिताने की सलाह मुझे बाजार में दी गई थी। लेकिन शाम तो उस तालाब के इसी तरफ हो गई। अब अंधेरा होने ही वाला था। अब कहां संजयपुर और कहां रात का आराम!

मुझे बहुत घबराहट होने लगी। अब क्या करूं? मेरे पास ताबीज और दवाओं की बिक्री से मिले काफी रुपये थे। मैंने सोचा, संकट के वक्त मैं भले ही और कुछ न कर सकूं, दौड़ तो सकता ही हूं। बहुत होगा तो यह थैला ही जाएगा, जान तो बच जाएगी।

डरते-डरते मैं उस बड़े तालाब के पास पहुंचा। वह काफी पुराना तालाब था, जिसके चारों तरफ खूब ऊंची जमीन थी। उसके दोनों ओर की ऊंची चारदीवारी पर लंबे-लंबे ताड़ के पेड़ों की कतार थी। उसी की बगल से एक रास्ता जाता था, जो उस वक्त बिलकुल सुनसान था। मुझे वहां पर डरने का कोई कारण नजर नहीं आया। लोग न जाने क्यों इस तरह झूठमूठ का डर दिखलाते हैं?

उस बड़े तालाब के ताड़ों की कतार को पीछे छोड़कर जैसे ही मैं आगे बढ़ा, मुझे अपने सामने खुले मैदान के बीच दूर एक गांव नजर आया। जरूर वही संजयपुर होगा।.... ओफ्! जान बची। मुझे लोगों ने कितना डरा दिया था। चारों तरफ खुला मैदान था। नजदीक ही लोगों की बस्ती थी। उस गांव के गाय-बछड़े खुले मैदान में चर भी रहे थे। ऐसी जगह भला डरने की क्या जरूरत थी!

मेरे मन में इसी तरह के खयाल आ रहे थे। तभी उस तालाब की पीछे वाली सड़क से एक बूढ़े को मैंने अपनी ओर आते हुए देखा। वह काफी हट्टा-कट्टा था। इस उम्र में भी उसकी मांसपेशियां बहुत कसी हुई थीं। उसके गले में रुद्राक्ष की माला थी। हाथ में छोटी लाठी।

बूढ़े ने मुझसे पूछा—'कहां जाएंगे पंडितजी?'

'माखमपुर।'

'माखमपुर! पर वह तो अभी तीन कोस दूर है। वहां कहां जाएंगे?'

'सचीश कविराज के यहां।'

'पंडितजी, आप क्या उनके गुमाश्ते हैं?'

'नहीं, मगर वहां जोत-जमीन के काम से ही जा रहा हूं।'

'इस इलाके में और किसी को पहचानते हैं? महाशय, खुद कहां के रहने वाले हैं?'

'मैं इधर कभी आया ही नहीं। किसी को जानता भी नहीं। माखमपुर में भी पहली बार जा रहा हूं।'

'वहां भी कोई आपको जानता है?'

'नहीं, भला कौन जानेगा?'

यह सुनकर वह बूढ़ा कुछ सोचने लगा। फिर उसने कहा—'अगर बुरा न मानें तो एक बात कहूं। आप आज कृपा करके मेरे यहां ठहर जाइए। हम लोग जात के बारूई हैं, हमारे हाथ का पानी आप पी सकते हैं। आपको दिक्कत नहीं होगी। चंडीमंडप की बगल में मेरा बैठकखाना है। आप वहीं रात बिताइए। खाना आप खुद पका लीजिएगा। अब चलने की कृपा कीजिए।'

मैं यह सुनकर खुश हो गया। वाकई पुराने लोगों की एक अलग ही नैतिकता होती है। मेहमानों की सेवा करने में इन्हें तृप्ति मिलती है। अगर उस बूढ़े ने यह प्रस्ताव न किया होता तो इस राढ़ इलाके के अनजाने कच्चे रास्ते से होते हुए इस आसन्न अंधेरी रात में मुझे माखमपुर जाना ही पड़ता, वह भी तीन कोस पैदल चलकर।

गांव के पूर्वी छोर पर एक बड़े मैदान के किनारे उस बूढ़े का घर था। उस बूढ़े का नाम नफरचंद्र दास था। जैसे ही मैं चंडीमंडप में पहुंचा, एक कुत्ता भौंकने लगा।

कुत्ते का इस तरह भौंकना मुझे अच्छा नहीं लगा। मगर मैं इसका कोई कारण नहीं बता सकता। लेकिन कुत्ते के भौंकने में कोई अपशकुनी संकेत निहित था। मुझे लगा, उस वक्त मैं किसी गृहस्थ के घर में जाने की बजाए किसी श्मशान में पहुंच गया हूं।

उस बूढ़े का घर देखकर लगा वह खाता-पीता गृहस्थ ही होगा। उसके मकान के ओसारे में धान के तीन बड़े-बड़े कोठले थे। उसी से लगी बड़ी गौशाला थी, जिसमें करीब बीस गाय-बैल बंधे थे। मकान के अंदर फूस के चार बड़े कमरे बने थे। बाहर इस चंडीमंडप की बगल में एक और कोठरी थी।

मेरी बात ठीक से समझने के लिए इस कोठरी के बारे में जरा अच्छी तरह से जानना होगा। इस कोठरी को चंडीमंडप से लगा एक कमरा भी कहा जा सकता था, क्योंकि एक संकरे चौतरे से वह चंडीमंडप के पिछवाड़े से जुड़ा था। दरवाजा बंद कर देने पर वह बैठक से एकदम अलग हो जाता था और एक स्वतंत्र कमरा बन जाता था।

मुझे इसी कोठरी में ठहराया गया। कोठरी की एक तरफ एक छोटा छप्पर था। वहां पर मेरी रसोई का इंतजाम कर दिया गया। मैं मुंह-हाथ धोकर थोड़ा आराम कर रहा था।

बूढ़े ने आकर कहा—'पंडितजी, रसोई पका लीजिए। ज्यादा रात मत कीजिए।'

मैं रसोई में बैठकर खाना पकाने की तैयारी करने लगा। तभी देखा उस घर की एक औरत घर के भीतर से हाथ में झाड़ू लिए मेरे रसोईघर के सामने से होकर कोठरी में घुसकर झाड़ू लगाने लगी।

कोठरी का दरवाजा खुला हुआ था। मैंने दो-एक बार आश्चर्य से देखा, वह औरत झाड़ू लगाते-लगाते मेरी ओर देख रही थी। दो-तीन बार अच्छी तरह देखने के बाद मुझे लगा वह जानबूझकर ही मेरी ओर इस तरह बार-बार देख रही थी।

मैं बेहद हैरान था। बात क्या थी? एक बिलकुल अनजान औरत, जो गांव की गृहस्थ वधू थी, उसकी ऐसी हरकत तो ठीक नहीं थी। पता नहीं किस झमेले में फंसना पड़े। तब क्या मैं उस बूढ़े को बुलाकर उससे गपशप करते हुए अपनी रसोई पकाऊं?

वह औरत झाड़ू लगाकर चली गई। लेकिन शायद पांच मिनट बाद ही फिर लौट आई। उसे देखकर लगा, वह बेहद चिंतित और उत्तेजित थी। इस बार वह फिर से कोठरी में जाकर उसकी चीज़ें इधर-उधर हटाने लगी और पहले की तरह मेरी ओर देखने भी लगी। इसके बाद अचानक रसोईघर के दरवाजे पर आकर उसने एक बार सतर्कता से अपने चारों ओर देखा और सुनसान पाकर मेरे करीब आकर बेहद धीमे स्वर में बोली—'पंडितजी, आप यहां से तुरंत भाग जाइए, नहीं तो आप बड़ी आफत में फंस जाएंगे। ये लोग फंदा लगाकर जान लेने वाले डाकू हैं। रात में आपको मार डालेंगे।' यह कहकर वह झट से अपने मकान में चली गई।

मैं बेहद घबरा गया। हाथ का करछुल हाथ में ही धरा रह गया। मुझे जैसे करंट लग गया। मेरे हाथ-पैर ठंडे हो गए और सारा शरीर कांपने लगा। यह क्या कह गई वह? देखने में यह बिलकुल किसी गृहस्थ का ही घर लगता था। जहां धान के गोले थे, अपना घर-बार था। ये डाकू कैसे हो सकते थे?

लेकिन यहां से भागूं कैसे? उस वक्त काफी रात हो गई थी। सामने के चंडीमंडप में वह बूढ़ा बैठा लोगों से बातें कर रहा था। उधर से जाते ही उसे संदेह हो जाता।

मैं पत्थर की तरह जड़ हो गया। हाथ-पैर ढीले हो गए। मेरा दिमाग भी काम नहीं कर रहा था। लगभग पांच मिनट इसी तरह बीते होंगे, तभी मैंने देखा—वह औरत फिर न जाने किस काम से कोठरी में जाकर खुले दरवाजे से मुझे देखने लगी।

उसके कुछ कहने से पहले ही मैंने कहा—'तुम जो भी हो, मगर हो बहुत दयावान! बस, इतना बता दो कि मैं किस रास्ते से होकर यहां से कैसे भाग सकता हूं?'

वह दबे स्वर में बोली—'इसीलिए यहां आई हूं। सब-कुछ देख-सुनकर आ रही हूं। भागने का कोई रास्ता नहीं है। वे लोग सभी रास्तों की निगरानी कर रहे हैं।'

मैंने पूछा—'तब क्या किया जाए?'

वह बोली—'बस एक ही तरीका है, वह मैंने सोच लिया है। मैं इस घर में अब और ब्रह्महत्या नहीं होने दूंगी। अब तक काफी बरदाश्त कर चुकी हूँ। अब और नहीं करूंगी।.... आप जरा रुकिए पंडितजी! मैं जरा एक बार फिर घर हो आऊं, नहीं तो उन्हें संदेह हो जाएगा।'

करीब पांच मिनट बाद वह लौट आई। चारों तरफ अच्छी तरह देखकर वह बोली—'अब सुनिए मेरी योजना। ये कुछ बातें आप याद कर लीजिए। अगर आप इन्हें याद कर लेंगे तो मैं आपकी जान बचा सकती हूं।.... मेरा नाम वामा है। मैं इस घर की मंझली बहू हूं। मेरे मायके के गांव का नाम कुसुमपुर है। जिला वर्धमान, थाना रायना। मेरे पिता का नाम हरिदास मजूमदार है और ताऊजी का पांचकौड़ी मजूमदार है। हम दो बहनें हैं। मेरी दीदी का नाम

खांतमणि है। उसकी शादी सामंतपुर-तेओटा, जिला वर्धमान में हुई है। मेरे ससुर का नाम दुर्लभदास है। ये सभी जात के बारूई हैं। मेरे पिता, ताऊजी सभी जीवित हैं। मेरी मां गुजर चुकी है।'

मुझे उस वक्त कुछ भी नहीं सूझ रहा था। वह जो कह रही थी, मैं वही किए जा रहा था। मगर उससे क्या होगा? वह बीच-बीच में अपने घर में चली जाती थी। फिर दो-तीन मिनट बाद ही वापस लौटकर मुझे सिखाने लगती थी, 'सब-कुछ याद है न? मेरे ताऊजी का नाम क्या है?'

मैंने कहा—'हरिदास मजूमदार।'

'नहीं-नहीं, पांचकौड़ी मजूमदार। हरिदास मजूमदार मेरे पिता का नाम है। अच्छा बताइए, मेरी दीदी का क्या नाम है? उसकी सुसराल कहां है?'

'खांतमणि! ससुराल है ससुराल....?'

'लगता है, आप सब पर पानी फेर देंगे। उसकी ससुराल सामंतपुर-तेओटा गांव में है। एक बार फिर से दोहराइए।'

'सामंतपुर-तेओटा। ससुर का नाम रामयदुदास—दुर्लभराम दास।'

आखिरकार दस-बारह मिनट में मेरे सामने सब-कुछ साफ हो गया।

वह औरत बोली—'पंडितजी, अब रसोई बनाकर खा लीजिए। जरा भी मत डरिए। मेरे मायके के नाम-धाम की जब जानकारी हो चुकी है, तब मैं आपको बचा लूंगी। अब सुनिए, खाना खाने के बाद ही मेरे ससुरजी से मेरे मायके का परिचय देकर कहिएगा, आप उनके गुरुवंशज हैं। मेरा नाम लेकर उनसे पूछिएगा, मेरी शादी कहां हुई है, क्या उन्हें इसके बारे में पता है? ऐसा कहते हुए आपका गला न कांपे, जरा भी संदेह का मौका मत दीजिएगा। अब मैं जाती हूं। ससुरजी से आपकी बात हो जाने के बाद मैं फिर आऊंगी। लेकिन ज्यादा देर मत कीजिएगा। विपत्ति कब आ जाए, कहना मुश्किल है।'

रसोई न पकाने और खाना न खाने से उन्हे संदेह हो सकता था। इसलिए यह सब करना ही पड़ा। रात का अंधेरा काफी घना हो गया था। दस से कम क्या बजे होंगे? मैं खा-पीकर अपनी कोठरी में चला गया। मुझे लग रहा था, जैसे उस वक्त उस घर के सभी लोग मेरी गर्दन काटने के लिए अपनी-अपनी कटार और हंसियों पर सान चढ़ा रहे होंगे।

तभी वह बूढ़ा मेरे लिए पान ले आया। कहा—'पंडितजी, भोजन हो गया? अब मजे से सो जाइए। मैं मसहरी लगा देता हूं। रात काफी हो गई है, अब देर मत कीजिए।'

मैंने कहा—'अरे, एक बात तो पूछना ही भूल गया।.... हमारे एक शिष्य, जिनको मैंने दीक्षा दी है, वे कुसुमपुर, थाना रायना के रहने वाले हैं, उनका नाम पांचकौड़ी—मतलब हरिदास मजूमदार है। उनकी लड़की का नाम वामा है। उसकी इधर ही कहीं शादी हुई है। वे भी आपकी ही तरह बारूई हैं। शायद आप उन्हें जानते हों। उस लड़की के ताऊ दुर्लभराम—मतलब पांचकौड़ी ने मुझे उनकी बेटी के ससुराल का पता लगाकर उसका हालचाल पूछने के लिए वहां जाने के लिए कहा था।.... तो फिर मैं इस तरफ आया ही हूं, तब....।'

मेरी बात सुनकर बूढ़ा उलझन में पड़ गया। मेरी ओर चौंककर देखते हुए बोला—'कुसुमपुर का हरिदास मजूमदार? वामा?.... आप उन लोगों को कैसे पहचानते हैं?'

वामा की नसीहत याद करके बिना विचलित हुए मैंने कहा—'मैं उन लोगों के गुरुवंश का हूं। मेरे पिता ने उन्हें दीक्षा दी है।'

बूढ़े ने हड़बड़ाते हुए कहा—'आप बैठिए, मैं अभी आ रहा हूं।'

मैं वहां बैठा रहा। संदेह और भय तब भी मन में बना हुआ था। ये लोग अपने गुरुदेव की भी बलि नहीं देंगे, इसे कौन कह सकता था?

कुछ ही देर में बूढ़ा वापस लौटा। उसके पीछे-पीछे उसकी वही बहू भी थी। उसके साथ एक हट्टा-कट्टा जवान और एक अधेड़ औरत भी थी, जो शायद उस बूढ़े की घरवाली रही होगी।

बूढ़े ने कहा—'पंडितजी, यही वामा है। मेरे ही मंझले बेटे के साथ.... यह मेरा मंझला लड़का शंभु है।' फिर आगे जोड़ा—'सब लोग प्रणाम करो। मंझली बहू जरा देखो तो इन्हें पहचानती हो कि नहीं?'

वामा बड़ी कुशल अभिनेत्री थी। उसने जबरदस्त अभिनय किया।

अपना घूंघट खोलकर उसने मुस्कराते हुए मेरे पैरों की धूल लेकर गले में आंचल डालकर मुझे प्रणाम किया। जीवनदात्री दयामई वामा! मेरी आंखें भर आईं।

इसके बाद वह रात किसी तरह बीती। पीने का पानी देने के बहाने वामा आकर मुझे ढाढ़स बंधा गई। बोली—'संकट टल गया है। मेरी नजर न पड़ती तो सर्वनाश हो जाता। घर में ब्रह्महत्या हो जाती। इसी कोठरी में न जाने कितनी हत्याएं हुई हैं। इसी बिस्तर पर। इस कोठरी की फर्श में ढेरों लाशें गड़ी हुई हैं।'

मेरे मन की दशा बताने लायक नहीं थी। मैंने पूछा—'पुलिस या गांववालों को कुछ नहीं पता चलता? वे कुछ कहते नहीं?'

'भला कौन कहेगा? यह पूरा गांव ही डाकुओं का है। यहां सभी ऐसे ही हैं। मेरे पिता को पहले पता होता तो भला वे यहां मेरी शादी करते? मुझे इनकी असलियत शादी के बाद पता चली। अब मेरा एक बच्चा भी है। इस पाप के घर में रहने से उसका भी अमंगल होगा। अपने पति को मैं समझाती रहती हूं। मगर वह भी लाचार है। सिर पर ससुरजी हैं—पुराने डाकू! बड़े भाई-लोग हैं.... बाबा ठाकुर, अब आप सो जाइए। अब कोई डर नहीं है।'

सुबह हुई। विदा लेते वक्त बूढ़े ने मुझे गुरु प्रणामी में पांच रुपए दिए। वामा को आड़ में बुलाकर मैंने कहा—'तुम मेरी मां हो! मेरी जीवनदात्री। आशीर्वाद करता हूं, तुम सदा सुखी रहो मां।'

वामा-जैसी बुद्धिमती औरत मैंने अपने जीवन में दूसरी नहीं देखी। यह घटना काफी पुरानी हो गई है। इस बुढ़ापे में भी उस दयामई ग्राम-वधू की याद आते ही मेरी आंखें भर आती हैं। मैं श्रद्धा से भर उठता हूं। ❖

अनुवाद : **अमर गोस्वामी**

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः।।

अध्याय 17/श्लोक-28

प्रातःकाल, दोपहर में व सायंकाल अन्न, द्रव्य, पुष्प, फल जो-कुछ भी भिक्षा मिले उसे लाकर गुरु के समीप रख दे तथा हाथ जोड़कर उनके सम्मुख खड़ा रहे। उस समय गुरु की आज्ञा मिल जाए तब पेट-भरने जितना अन्न ही उस भिक्षा में से ग्रहण करे। ब्रह्मचारी को अन्न के अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। प्रातःकाल एवं सायंकाल भोजन करना ही ब्रह्मचारी के लिए विहित है। गुरु-आज्ञा से जितना अन्न मिल जाए, उतने से ही क्षुधा-शांति कर लेनी चाहिए। वहां बुरा-भला कुछ नहीं बोलना चाहिए। जिह्वा का लाड कभी नहीं करना चाहिए, विषय-विस्तार नहीं बढ़ाना चाहिए। देह का निर्वाह हो जाए, इतना ही पर्याप्त है। शिष्य की ऐसी ही इच्छा होनी चाहिए। भोजन करते समय कुछ मांगना नहीं चाहिए। इसके लिए मौन ही रहना अच्छा है। अधिक अन्न खाने से गुरु-सेवा में बाधा आती है। भोजन यदि अधिक खा लिया जाए तो अतिशय निद्रा व आलस्य का प्रकोप होता है और यदि बहुत ही कम खाया जाए तो देह में विकलता उत्पन्न होती है।

गुरु-सेवा के लिए वृत्ति को सावधान रखना चाहिए। इसके लिए शिष्य-साधक को सदा युक्त आहार ही करना चाहिए। गुरु-सेवा के लिए शरीर को भी स्वस्थ व सावधान रखना चाहिए।

—श्रीमद्भागवत एकादश स्कंध

धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय और जैन दर्शन

प्रो. जी. आर. जैनी ने अनेक वैज्ञानिक अभिमतों के उल्लेख एवं व्याख्या के अनंतर प्रो. रिखी (A. P. Rikhie) के उद्धरण से स्पष्ट किया है—यद्यपि वैज्ञानिक क्रांतिकारी होते हैं। जहां विरोधाभासी तत्त्व मिलते हैं, वे उन प्राक् कल्पनाओं को निर्दयता से छोड़ देते हैं और नए का स्वीकार करते हैं।

प्रो. जैनी निष्कर्ष में कहते हैं कि अधुनातन वैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर दो बिंदु भलीभांति स्थापित हो गए हैं। धर्मद्रव्य ईथर अभौतिक है, लोक-व्यापी (Filling all space) और निष्क्रिय है।

कुछ लोग कहते हैं कि सापेक्षता के सिद्धांत ने ईथर को विज्ञान से बाहर फेंक दिया है, पर ऐसा नहीं है। उन्हें सावधानीपूर्वक देखना चाहिए कि सापेक्षता के सिद्धांत की महत्ता क्या है? वैज्ञानिक एडिंग्टन ने जैसा कि स्पष्ट कहा है—इसका यह तात्पर्य नहीं कि ईथर समाप्त हो गया है। हमें ईथर की जरूरत है। आजकल यह माना जा चुका है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है। अभौतिक होने के कारण उसकी प्रकृति सर्वथा भिन्न है। भौतिक द्रव्य के गुणों का इसमें अभाव होगा, पर इसके नए और निश्चयात्मक गुण होंगे। ईथर का अभौतिक समुद्र[22] अधर्मद्रव्य और क्षेत्र— कॉस्मोलॉजी ओल्ड एंड न्यू में पुनः डॉ. जैनी कहते हैं—'वैज्ञानिकों का ईथर निष्क्रिय माध्यम है, जो धर्मद्रव्य से संबद्ध है। जो कि पदार्थों की गति में सहायक है। अधर्मास्तिकाय दूसरा अदृश्य माध्यम है, जिसे क्षेत्र कहा जाता है, जिसके द्वारा गुरुत्वाकर्षण और विद्युत चुंबकीय शक्तियां सूक्ष्म व स्थूल, दोनों जगत् की स्थिरता को संचालित करती हैं।

गुरुत्वाकर्षण को सूक्ष्मदर्शी संसार, आकाशगंगाएं एवं सूर्यप्रणाली की स्थिरता का कारण कहा जाता है। यह विद्युत-चुंबकीय शक्तियों द्वारा अणुओं को स्कंध में बांधता है। जैन दर्शन की दृष्टि से यह कार्य अधर्मद्रव्य का है।

अधर्मास्तिकाय कुछ संदर्भों में न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण की भांति है और कुछ उससे भिन्न है। धर्म और अधर्म को Centripetal या Centrifugal force नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे दोनों निष्क्रिय हैं। न्यूटन गुरुत्वाकर्षण के भौतिक या अभौतिक स्वरूप के संबंध में संदिग्ध थे। आइंस्टीन ने गुरुत्वाकर्षण को निष्क्रिय एवं अमूर्त माना है।[23] आइंस्टीन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत के नवीनीकरण के पश्चात् उसके सक्रिय स्वभाव का पूर्णतः निरसन हो गया

पृष्ठ 22 का शेष

है। वर्तमान में गुरुत्वाकर्षण एक सहायक कारण के रूप में मान्य है। वह सक्रिय संचालक नहीं है। अतः उसका स्वरूप जैन सम्मत अधर्मद्रव्य से संबद्ध किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन मत-सम्मत इन अभौतिक द्रव्यों को विज्ञान आवश्यक मानता हुआ उसके लिए प्राक्कल्पना, प्रयोग एवं अन्वेषण में रत है। तथापि अमूर्त होने से उनका सीधा साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। कार्यलिंग होने से विज्ञान उन तक नहीं पहुंच पाया है। उनके द्वारा केवल पुद्गल और क्षेत्र (Matter & field) ही गम्य हैं।

डॉ. जैनी का मंतव्य है—यदि ईथर की भांति स्थिति के लिए भी अलग माध्यम की खोज हो तो अनेक कठिनाइयों का समाधान हो सकता है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—ये दोनों द्रव्य जीव और पुद्गल के लिए महान उपकारक हैं। इनके अस्तित्व, स्वरूप, गुण आदि की व्याख्या जैन दर्शन की अनुपम देन है। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. जैन सिद्धांत दीपिका 1/1, भगवती 2/124, समवायांग 5/8
2. प्रज्ञापना मलय वृत्ति, पृ. 8
3. अनुयोग चूर्णि, पृ. 29-30
4. अनुयोग हारिभद्रीय वृत्ति 41/42
5. भगवती 2/125, पंचास्तिकाय 83
6. भगवती 1/401, पंचास्तिकाय 91
7. भगवती 2/124
8. भगवती 13/53
9. पंचास्तिकाय 92, 95
10. जैन सिद्धांत दीपिका पृ. 7
11. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. 38
12. द्रव्य संग्रह 18, जैन सिद्धांत दीपिका 1/5
13. भगवती 13/57
14. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 178-79 (पं. सुखलालजी द्वारा विवेचित)
15. The Reals in Jain Metaphysics, P. 51
16. Ibid, P. 51
17. जैन दर्शन मनन मीमांसा, पृ. 190
18. प्रश्न व्याकरण वृत्ति पृ. 1/1, 2
19. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 179-80
20. Cosmology Old & New, P. 20, 21, 22
21. The Mysterious Universe, P. 31
22. The Nature of the physical world, P. 31
23. Cosmology Old & New, P. 26-27 ❖❖

श्रीकांत वर्मा की कविता

अश्वघोष

बंधु अश्वघोष
मैं समझा नहीं मतलब
मैंने जिसके चेहरे पर हंसी देखी थी
उसी को
बिलखता देख रहा हूं,
जिसे सुना था गर्व से
कहीं,
विपुल है, सुख।
देख रहा हूं वही
शोकाकुल
लौट रहा है।
मैं समझा नहीं मतलब।
सुनो बंधु,
मैं अश्वघोष नहीं,
मैं वही हूं
तुमने जिसके चेहरे पर
हंसी देखी थी,
फिर उसी को देखा बिसूरते,
जो गर्व से कहता था,

सुखी हूं
फिर कहने लगा,
धोखा था।
मैं वही हूं और अगर मैं अश्वघोष भी होता
तो क्या होता?

यहां के लोगों की यही तो खूबी है
ये सीढ़ियों पर चढ़ते हुए
हंसते हैं,
ठठाते हैं,
सीढ़ियां उतरते हुए
आंसू बहाते हैं
कभी स्वयं को
कभी सीढ़ियों को
गरियाते हैं।

यहां के लोगों का कहना है कि
यहां के लोगों की यही तो विशेषता है
वे जन्म लेते हैं, चहचहाते हैं,
आंखें लड़ाते हैं,
चौसर बिछाते
जब तक वे लिप्त हों,
कैसी विडंबना है मित्र,
जब तक वे लिप्त हों
तब तक अवधि समाप्त,
वे चौसर उठाते हैं,
आतंक़ित होते,
घबराते हैं,
यह पूछने के बदले मैं कौन हूं?
वे हर आने-जाने वाले से
पूछते हैं, कौन हो तुम? कौन?
हड़बड़ाते हैं।
लड़खड़ाते हैं,
दरवाजे भड़भड़ाते हैं।

अब तुम्हीं सोचो,
मैं नहीं होता अश्वघोष,
तो क्या तुमसे नहीं पूछता,
कौन हो तुम?

❖

शीलन

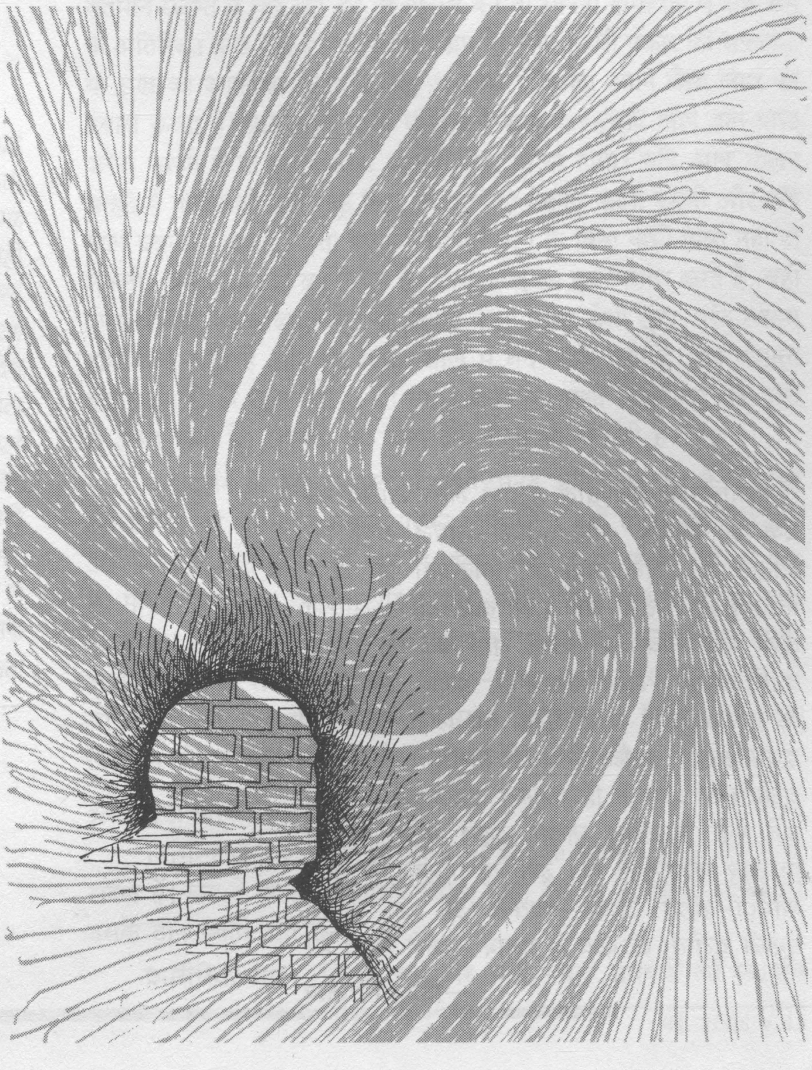

हिंसामुक्ति साधने वाले हजारों लोग शायद हर देश में मिलेंगे और अपने-अपने घरों में, मंदिरों में, गिरजाघरों में, मस्जिदों में, बौद्ध विहारों में, जीवन-यापन भी करते होंगे, लेकिन वैसी हिंसामुक्ति से काम नहीं बनेगा। केवल कायिक और मानसिक नहीं, हमारे सहजीवन के प्रत्येक क्षण में से हिंसा का निराकरण हो; इसके प्रयोग करने होंगे। हिंसामुक्ति की पहली चुनौती के रूप में हिंसामुक्त सहजीवन के लिए हमें ऐसे मानवीय संबंध ढूंढ़ने पड़ेंगे जिनमें परस्पर शोषण न हो। इसलिए हिंसामुक्त और शोषण-रहित जीवन-व्यवस्थाओं की युक्ति दूसरी चुनौती के रूप में हमारे सामने खड़ी है।

—विमला ठकार

श्रम : आध्यात्मिक अभिप्राय

साध्वी श्रुतयशा

'खाली दिमाग शैतान का घर'—यह कहावत श्रम से जी चुराने वाली मानसिकता के कारण उत्पन्न समस्याओं को उजागर करने वाली है। जो व्यक्ति श्रमशील नहीं होता, वह न केवल शारीरिक दृष्टि से रुग्ण होता है, अपितु अपने परावलंबन के कारण भय, शोक, चिंता, अवसाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक व्याधियों से पीड़ित हो जाता है। अपनी नकारात्मक सोच एवं सुविधावादी जीवनशैली के कारण वह तनावग्रस्त होकर अनेक मनोकायिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। जो व्यक्ति श्रम-प्रधान जीवन जीता है, वह तन और मन से स्वस्थ रहता है, उसकी रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार प्रसन्नता एवं दीर्घायुष्य का मूलमंत्र है—श्रमशीलता।

प्राचीन वाङ्मय में जादू की छड़ी, पारसमणि, कल्पवृक्ष एवं कामकुंभ जैसी अनेक विलक्षण वस्तुओं के उल्लेख मिलते हैं। वर्तमान संदर्भों में यदि हम उन पर विचार करें तो मानना होगा कि वे सब श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। जो व्यक्ति श्रम के बिना किसी प्रकार की सफलता या सुख की आकांक्षा करता है, वह आकाश में कमल उगाने जैसा व्यर्थ का प्रयास करता है। प्रसिद्ध विचारक रस्किन ने कहा है—'यदि आप ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो इसके लिए आपको श्रम करना होगा। यदि आप भोजन चाहते हैं तो उसकी प्राप्ति के लिए भी आपको मेहनत करनी पड़ेगी और यदि आप प्रसन्नता चाहते हैं, तो वह भी आपको श्रम के बिना कभी प्राप्त नहीं हो सकती। श्रम ही प्रकृति का नियम है। जिस वस्तु का हम निर्माण करते हैं, वही हमारी है। प्रत्येक बढ़िया वस्तु को प्रकृति ने संगमरमर जैसी सुंदर, परंतु स्वस्थ हाथों से बनाया है और उसे कठोर ताले में बंद करके रखा है। वह मजबूत ताला श्रम से ही खुल सकता है। महान बनने की सभी विशेषताएं श्रम द्वारा ही प्राप्त होती हैं। सभ्यता को जन्म देने वाला भी श्रम ही है।'

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक प्राणी अनंत शक्ति का पुंज है, पर वह उस शक्ति का पूरी तरह सदुपयोग कर लाभान्वित नहीं हो सकता। क्योंकि उसकी शक्ति अंतराय नामक कर्म से प्रतिहत/बाधित हो गई है। साथ ही यह भी माना गया है कि व्यक्ति श्रम के द्वारा कर्म के उस शिकंजे से भी मुक्त हो सकता है। जैन दर्शन के अनुसार श्रम का अभिप्राय है—अंतराय-कर्म-क्षयोपशम-जन्य-शक्तेः संप्रयोगः श्रमः—अर्थात् वीर्यांतराय के विलय से जो शक्ति या बल प्राप्त होता है उसका विकास की दिशा में सम्यक् नियोजन ही श्रम है। वही पराक्रम, पुरुषार्थ एवं उत्थान है।

श्रम के प्रकार

विभिन्न दृष्टियों से विचार करने पर श्रम के पृथक्-पृथक् प्रकार हो सकते हैं। श्रम में कौनसे अवयव मुख्यतः काम कर रहे हैं, इसके आधार पर उसके तीन प्रकार होते हैं—

शारीरिक श्रम—जिसमें हाथ, पैर आदि स्थूल अवयवों का व्यायाम

होता है।

वाचिक श्रम—जिसमें स्वरयंत्र एवं वाणी संबंधी अवयव कार्य करते हैं।

बौद्धिक या मानसिक श्रम—जिसमें बुद्धि और मस्तिष्क का मुख्यतः उपयोग होता है।

इच्छा के आधार पर श्रम के दो प्रकार होते हैं। 1. स्वेच्छा या मन से किया गया श्रम प्रसन्नता एवं मनःशांति का हेतु बनता है। 2. जबरदस्ती या परवशता से किया गया श्रम खिन्नता का हेतु बनता है। वह एक प्रकार की हिंसा है।

निष्पत्ति एवं प्रयोजन के आधार पर भी श्रम के दो-दो प्रकार हो सकते हैं। जैसे—1. **लौकिक श्रम**—जो हमारी वर्तमान की जीवनचर्या के लिए अपेक्षित होता है। 2. **लोकोत्तर श्रम**—जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण से किया जाता है।

इन दोनों को हम दूसरे शब्दों में सावद्य श्रम और निरवद्य श्रम भी कह सकते हैं। पुनः इनके भी आदेय/उपयोगी या सार्थक और अनादेय/अनुपयोगी या निरर्थक के रूप में दो भेद किए जा सकते हैं। गुणात्मक दृष्टि से श्रम के पुनः दो भेद किए जा सकते हैं—1. **तामसिक श्रम**—जो विध्वंसात्मक या असामाजिक प्रवृत्तियों में किया जाता है। 2 **सात्त्विक श्रम**—जो रचनात्मक प्रवृत्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है।

सात्त्विक श्रम के पुनः तीन भेद किए जा सकते हैं—स्वोपयोगी, परोपयोगी और उभयोपयोगी या सर्वोपयोगी।

श्रम क्यों करें

श्रम जीवन की अनिवार्यता है। श्रम से पूर्ण मुक्ति की चाह का अर्थ है—मृत्यु का वरण। ऐसा कोई भी क्षण नहीं कि कोई व्यक्ति सर्वथा श्रमत्याग करके जी सके। फिर भी श्रम की अनिवार्यता के विषय में कुछ मुख्य हेतु इस प्रकार हो सकते हैं—

शारीरिक स्वास्थ्य—यदि हमारे हृदय, मस्तिष्क, लीवर आदि में से एक भी अवयव कुछ क्षणों के लिए अपना कार्य करना बंद कर दे यानी श्रम से मुंह मोड़ ले तो हमारा जीवन संभव नहीं। आज रक्तचाप, मधुमेह, हृदयाघात, पक्षाघात, तनाव आदि बीमारियां निरंतर बढ़ रही हैं। उसका बहुत बड़ा कारण जीवनचर्या में श्रम की अल्पता है। मशीनों, यंत्रों या सेवकों पर निर्भरता बढ़ रही है। बढ़ते हुए सुविधावाद ने व्यक्ति की रुग्णता को बढ़ाने में पर्याप्त सहयोग दिया है।

श्रम की महिमा पर स्वेट मार्डन लिखते हैं—'उस (श्रम) से नेत्रों में ज्योति और मुखमंडल पर तेज आता है, नस-नाड़ियां दृढ़ होकर उनमें स्वस्थ रक्त परिभ्रमण करता है तथा विचार निर्मल होते हैं। नस-नाड़ियों के रोगों को भगाने के लिए श्रम रामबाण औषध है।'

मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य—'खाली दिमाग शैतान का घर'—यह कहावत श्रम से जी चुराने वाली मानसिकता के कारण उत्पन्न समस्याओं को उजागर करने वाली है। जो व्यक्ति श्रमशील नहीं होता, वह न केवल शारीरिक दृष्टि से रुग्ण होता है, अपितु अपने परावलंबन के कारण भय, शोक, चिंता, अवसाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक आधियों से पीड़ित हो जाता है। अपनी नकारात्मक सोच एवं सुविधावादी जीवनशैली के कारण वह तनावग्रस्त होकर अनेक मनोकायिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। जो व्यक्ति श्रम-प्रधान जीवन जीता है, वह तन और मन से स्वस्थ रहता है, उसकी रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति बढ़ जाती है। इस प्रकार प्रसन्नता एवं दीर्घायुष्य का मूलमंत्र है— श्रमशीलता।

सामाजिक स्वास्थ्य—स्वस्थ समाज-संरचना का आधार है श्रमप्रधान जीवनशैली में विश्वास। जिस समाज या समुदाय में श्रमचेतना की अल्पता या अभावप्रायः हो, जो श्रमपूर्ण कार्यों से जी चुराता हो, उस समुदाय में शांत सहवास कदापि संभव नहीं। श्रम का संविभाग, संतुलित कार्य-विभाग, श्रमपूर्ण कार्यों के संपादन में अहमहमिका प्रस्तुति, शांत सहवास एवं दायित्व निर्वाह की पृष्ठभूमि जरूरी है।

विकास—यदि अच्छी फसल प्राप्त करना है तो खेत में श्रम करना ही होगा। मक्खन प्राप्त करना है तो दधिमंथन करना ही होगा। व्यवसाय में श्रम किए बिना धन, अध्ययन में श्रम किए बिना विद्वत्ता एवं साधना में श्रम किए बिना वीतरागता की प्राप्ति असंभव है। कठोर श्रम से ही कार्य स्थाई एवं फलदायी होता है। श्रम ही सिद्धि और साधना के बीच का महासेतु है।

समस्या का समाधान

जैन दर्शन की भाषा में विकास एवं समाधान का

उपादान है—क्षयोपशम का विकास, और क्षयोपशम का अभिप्राय है कर्मशत्रुओं के साथ निरंतर संघर्ष कर उन्हें अप्रभावी या अल्पप्रभावी बनाना। संघर्ष में विजय का एकमात्र शस्त्र है परिश्रम। श्रम की श्रेष्ठता में विश्वास करने वाला व्यक्ति समस्या के महासागर से पार हो सकता है।

श्रम कब करें

जैन दर्शन के अनुसार मुख्यतः दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—भोगभूमिज और कर्मभूमिज। भोगभूमि में पैदा होने वाले मनुष्य कल्पवृक्षों पर आश्रित होते हैं। उनकी आहार, आवास एवं आमोद-प्रमोद की व्यवस्था प्रकृतिकृत है। फलतः उन्हें न श्रम की आवश्यकता होती है और न वे कुछ विकास कर पाते हैं। कर्मभूमि में पैदा होने वाले मनुष्य कर्मप्रधान जीवन जीते हैं। खेती-बाड़ी, अध्ययन-अध्यापन, योगसाधना आदि लौकिक और लोकोत्तर श्रम के द्वारा जहां एक ओर सभ्यता एवं संस्कृति का विकास करते हैं, वहीं दूसरी ओर उत्क्रमण की उत्कृष्ट भूमि—मुक्तिमहल पर भी अधिकार प्राप्त करते हैं।

श्रम का प्रारंभ-बिंदु है—जन्म का प्रथम समय और अंतिम बिंदु है जीवन का अंतिम क्षण। नवजात शिशु को पूर्ण संरक्षण प्राप्त है और दूध सहज उपलब्ध है, फिर भी वह रोने का श्रम करता है, दूध पाने के बाद हाथ-पैर चलाता है, दूध का पाचन भी तभी कर पाता है। तेरापंथ एक श्रमण संस्था है। श्रमण वह होता है जो निरंतर श्रम करता है। इसके आद्यप्रवर्तक श्रीमद् भिक्षुस्वामी 77 वर्ष की अवस्था—जो उस समय परिपक्व वृद्धावस्था गिनी जाती थी—तक श्रम करते रहे। वे दूर-दूर गोचरी करने जाते, दूर पंचमी पधारते, खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते, अस्वस्थ एवं वृद्ध लोगों को दर्शन देने घर-घर तत्त्वचर्चा में रात्रि-जागरण भी करते, शिष्यों को पढ़ाते, ग्रंथ-रचना करते। इसी तरह गुरुदेव तुलसी भी अपने जीवन के अंतिम समय तक श्रम करते रहे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपनी उम्र के नवें दशक में प्रवेश कर चुके हैं, फिर भी सुबह साढ़े तीन-चार बजे से लेकर रात्रि सवा-डेढ़ प्रहर तक अविराम श्रम करते हैं। श्रम की जीवनघूंटी पिलाते हुए गुरुदेव तुलसी लिखते हैं—

श्रम जीवन है, श्रम संस्कृति है,
फिर मैं सुविधावादी क्यूं?
श्रम है स्वास्थ्य, सुनूं जानूं,
फिर अश्रम का आस्वादी क्यूं?

श्रम : करणीय कार्य एवं संविभाग

श्रमण चाहे दीक्षा से पूर्व राजघराने का सदस्य हो या सामान्य घर का, श्रमण बनते ही वह श्रमिक पुत्र हो जाता है। उसकी हर आवश्यकता की पूर्ति का एकमात्र साधन है निरवद्य विधि से अर्जित भिक्षा। ब्रह्ममुहूर्त से लेकर रात्रि के प्रथम प्रहर पर्यंत उसे अनेकविध श्रम में अपनी शक्ति का नियोजन करना होता है। तेरापंथ धर्मसंघ की सदस्यता प्राप्त करने वाले हर मुमुक्षु को अपनी व्यक्तिगत साधना के साथ-साथ अनेक संघीय एवं सामुदायिक दायित्वों का निर्वहन भी करना होता है। इन संघीय कार्यों के मुख्यतः तीन प्रकार हो जाते हैं—

1. **समुच्चय के कार्य**—सामूहिक व्यवस्था को सुचारु रूप प्रदान करने वाले एवं आचार्य तथा केंद्र से संबद्ध या निर्दिष्ट सभी कार्य समुच्चय के कार्य कहलाते हैं। प्राचीन काल में बाजोटों का कार्य, 'धड़े' का काम (आहार-नियमन व्यवस्था), पानी का काम (जल-व्यवस्था एवं वितरण), परिष्ठापन आदि के कार्य समुच्चय के कार्य के अंतर्गत होते थे।

2. **साझ के कार्य**—आपसी सहयोग एवं चित्त-समाधि आदि के निमित्त बनाए गए सामान्यतः तीन या चार सदस्यों के समूह को साझ कहा जाता है। साझ-संबंधित सभी कार्य—पारस्परिक चित्तसमाधि, सेवा-व्यवस्था, स्थान-व्यवस्था, गोचरी-व्यवस्था, भोजन-व्यवस्था, सफाई-व्यवस्था, परिष्ठापन-व्यवस्था आदि के दैनिक कार्य इस विभाजन के अंतर्गत आते हैं।

3. **अन्य कार्य**—समुच्चय एवं साझ के अतिरिक्त सारे कार्य—पुस्तक प्रतिलेखन, स्थान प्रमार्जन आदि इसके अंतर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार से देखा जाए तो साधु के सारे कार्य—पात्र रंगाई, वस्त्र सिलाई, वस्त्र धुलाई, स्थान-पात्र आदि की सफाई—सब स्वयं के हाथों से संपादित होते हैं। वह नौकर या सेवक पर आश्रित नहीं होता। अतः उसका जीवन ही श्रम का पर्याय है।

तेरापंथ धर्मसंघ में श्रम की संतुलित व्यवस्था है। छोटे-बड़े सभी को अपने संविभाग के अनुसार उचित श्रम करना होता है। प्रत्येक साधु की बारी-व्यवस्था-क्रम होता है। श्रम के संविभाग का महत्त्व बताते हुए गुरुदेव तुलसी

शेष पृष्ठ 56 पर

तप : कर्म-निर्जरा और आत्मशुद्धि

मुनि आनंदकुमार

रोटी के बिना कोई भी टिका नहीं रह सकता। रोटी की जुगाड़ में ही आदमी की सुबह होती है और शाम ढलती है। शरीर की पहली आवश्यकता है रोटी। उम्र-भर व्यक्ति अपनी शक्ति, समय, सोच, श्रम, रोटी के नाम लिख देता है।

यदि भूख की समस्या न होती तो संसार में इतना दुख न होता, न शोषण होता और न कानून की सीमाएं टूटती। मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊंच-नीच का भेदभाव और वैर-विरोध की दीवारें कभी खड़ी नहीं होती। लगता है, सब पापों की जड़ पेट की आग और संग्रह की भूख है। अमीर हो या गरीब, गृहस्थ हो या संत या पशु-पक्षी वर्ग, भूख की पीड़ा सबके लिए एक-सी है। इसकी पूर्ति न हो तो इसके अभाव में मौत दस्तक देने लगती है। जीवन का दूसरा नाम ही भोजन है।

यद्यपि भूख को जीतना बहुत कठिन है, मगर इस तपस्या की यदि शुरुआत हो जाए तो रोटी के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल सकता है। समस्या पदार्थ नहीं, आसक्ति है। आसक्ति का संयमन करना ही तपस्या है। भूख मनुष्य की मौलिक वृत्ति है और इसकी पूर्ति भोजन से होती है। इसके साथ यदि भोग जुड़ जाए तो तृष्णा अधिक बढ़ जाती है और यही घातक अवस्था होती है। जो व्यक्ति भोग और भूख पर नियंत्रण कर लेता है, इनका शमन कर लेता है, वही तपस्या कर सकता है। शरीर से यदि कोई जुड़ा है, तो उसके साथ दुख-सुख का संवेदन लगा ही रहेगा।

यद्यपि भूख को जीतना बहुत कठिन है, मगर इस तपस्या की यदि शुरुआत हो जाए तो रोटी के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल सकता है। समस्या पदार्थ नहीं, आसक्ति है। आसक्ति का संयमन करना ही तपस्या है। भूख मनुष्य की मौलिक वृत्ति है और इसकी पूर्ति भोजन से होती है। इसके साथ यदि भोग जुड़ जाए तो तृष्णा अधिक बढ़ जाती है और यही घातक अवस्था होती है। जो व्यक्ति भोग और भूख पर नियंत्रण कर लेता है, इनका शमन कर लेता है, वही तपस्या कर सकता है। शरीर से यदि कोई जुड़ा है, तो उसके साथ दुख-सुख का संवेदन लगा ही रहेगा।

यदि इंद्रियों के साथ आसक्ति है, प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग का चिंतन है, तो शरीर बाधक है। शरीर साधक भी है, यदि उसे साधना का सेतु-बंध बना लिया जाए। यह शरीर हमारी पूजा का मंदिर है। इसको नाशवान या क्षणभंगुर कहकर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह आत्म-सुरक्षा का कवच है। यही अभिव्यक्ति केंद्र है—चेतना का, ज्ञान का, शक्ति का और आनंद का। शरीर के प्रति जब सम्यक् सोच जागती है तभी तपस्या का भाव जाग्रत होता है।

तपस्या का मुख्य उद्देश्य है—कर्म-निर्जरा अर्थात् आत्मशुद्धि। कर्म-संस्कारों के शोधन के लिए होने वाली तपस्या में न प्रदर्शन होता है और न प्रलोभन, न प्रतिस्पर्धा होती है, न प्रतिष्ठा की बात। प्रशंसा का व्यामोह और भौतिक सुखों को पाने का शर्त-बंध सौदा तपस्या में नहीं होता। तपस्या सदा क्षयोपशम, कायबल, सहिष्णुता, धैर्य, दृढ़-संकल्प और श्रद्धा के साथ ही की जा सकती है। यह साधना वही कर सकता है जिसने इंद्रियों को वशीभूत कर लिया, मन की लगाम पकड़ ली, आसक्ति पर अंकुश लगा दिया और जिसने शरीर व आत्मा के बीच पड़ा झीना-सा परदा उठा दिया। उत्पादन और व्यय के बीच जिसने चैतन्य की ध्रुवता समझ ली, जिसने संबोधि पा ली कि यही वह क्षण है जिसमें पौद्गलिक शक्तियों के द्वारा आत्मिक शक्तियों को अनावृत किया जा सकता है—तपस्या उसी के लिए संभव है।

तप में इंद्रियां, मन, शरीर और संचित संस्कार तपते हैं और एक नए व्यक्ति का जन्म होता है। आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर वह समाधि में प्रवेश करता है। वह केवल आहार का संयमन ही नहीं करता, इंद्रियों की शक्ति पर भी विजय पाता है, वृत्तियों का शोधन करता है। अपने आचार, विचार, व्यवहार और संस्कार को परिष्कृत करता है। वह वासनाओं को, आकांक्षाओं को, भोग शक्ति को और परिग्रही चेतना को पूर्ण विराम देता है।

साधना का एक सूत्र है—'शक्ति के बिना शांति नहीं'। शरीर बीमार है, इंद्रियां बहुमुखी हैं, कषाय उद्दीप्त है, मन विकारी है—तब शक्ति कैसे जागेगी? भीतर की शक्ति के लिए तपस्या जरूरी है। बिना तपे शक्ति नहीं जागती और शांति मन में उतरती नहीं। भगवान ऋषभ ने तेरह महीने, दस दिन तक न भोजन किया और न पानी पीया। पता नहीं कैसा था उनका शारीरिक संहनन, कैसा था उनका आंतरिक मनोबल और कैसी थी साधना के प्रति उनकी संकल्पबद्धता! इतना लंबा कालखंड तपस्या में बिता दिया। लगता है, भगवान ऋषभ उस समय देहातीत बन गए थे। जब देह की आसक्ति दूर हो जाती है तब भूख-प्यास सताती नहीं, बल्कि तपस्या में सुखानुभूति होती है। अक्षय तृतीया का दिन भगवान ऋषभ की दीर्घ साधना की पूर्णाहुति का दिन है।

भगवान ऋषभ एक से भी अधिक समय तक निराहार विचरते हुए एक बार हस्तिनापुर पधारे। बाहुबलि के पुत्र सोमप्रभु वहां राज्य करते थे। उनके पुत्र श्रेयांस ने अपने प्रपितामह के आगमन की बात सुनी तो वह तत्काल राजभवन से बाहर आया और भगवान के चरणों में वंदन किया। उन्हें मुनिरूप में देखा तो उसे वह स्वरूप परिचित-सा लगा। ऊहापोह करते हुए श्रेयांस को तत्काल जातिबोध हो गया। उसने कल्प को जाना तथा भोजन देने की विधि को भी जाना। श्रेयांस के प्रासाद में उसी दिन ताजे इक्षुरस से भरे हुए एक सौ आठ घड़े भेंटस्वरूप आए हुए थे। राजकुमार ने उसे ग्रहण करने के लिए भगवान ऋषभ से श्रद्धा-भाव से प्रार्थना की। श्रेयांसकुमार इक्षुरस के 108 घड़ों को मुंह पर लगाई अंजलि में उड़ेलने लगा। भगवान का वर्षीतप का पारणा अपने प्रपौत्र श्रेयांसकुमार के हाथ से हुआ। एक वर्ष और चालीस दिनों की लंबी अवधि के पश्चात् उन्होंने प्रथम भोजन लिया। वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन इक्षुरस के दान से अक्षय हो गया। उसी दिन से यह दिन 'अक्षय-तृतीया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आज ऋषभ-युग नहीं है, उनके जैसी आज न संहनन-क्षमता है, न शक्ति-बल, न आत्म-तत्सम, आत्म-जागरण है और न देहातीत हो जाने की अनुभूति ही संभव है। इसलिए वर्ष-भर भूखा-प्यासा रहना संभव नहीं रहा। अतः आराध्य की अर्चना में एक नया क्रम शुरू हुआ—वर्ष-भर एकांतर तप करने का क्रम। हजारों तपस्वी अक्षय तृतीया के दिन उसी एकांतर तप का पारणा कर अपने आराध्य को श्रद्धा का अर्घ्य अर्पित करते हैं। एकांतर वर्षीतप भी हर किसी के लिए संभव नहीं, इसीलिए गणाधिपति तुलसी ने अक्षय तृतीया के अवसर पर तप के पांच विकल्प प्रस्तुत किए—

1. एकांतर तपस्या, 2. कषाय विसर्जन वर्षीतप, 3. ध्यान, जप, कायोत्सर्ग का वर्षीतप, 4. स्वाध्याय का वर्षीतप और 5. साधक समण साधना का वर्षीतप।

प्रश्न कर्म-निर्जरा व आत्मशुद्धि का है। केवल सीढ़ी ही नहीं, सीढ़ी का हर पायदान अपनी मूल्यवत्ता रखता है। मंजिल तक पहुंचाने में तप का हर अनुष्ठान हमारे अंतर को विशुद्धि दे सकता है।

❖

अनाग्रह का आलंब : स्याद्वाद

साध्वी यशोधरा

शत्रुंजय तीर्थ का जीर्णोद्धार हो रहा था। सेठ-साहूकारों ने मुक्त हाथों दान दिया। दाताओं की सूची तैयार की गई तो उसमें प्रथम नामोल्लेख एक अकिंचन मजदूर भीम का किया गया, जिसने केवल सात पैसों का विसर्जन किया था।

लाख-लाख स्वर्ण-मुद्राओं को लुटाने वाले सेठ चौंक पड़े। सात पैसों का दान और ऐसा विज्ञापन! उन्हें क्या—जैसे सारी सभा को ही सांप सूंघ गया हो। तब उलझी गुत्थी को सुलझाते हुए पाटन मंत्री कुमार बाहड़ ने कहा—आश्चर्य में डूबने जैसी कोई बात नहीं है। आप लोगों ने लाखों का दान देकर भी अपनी संपत्ति का छोटा-सा भाग ही दिया है, लेकिन श्रमिक भीम ने सात पैसे भी कितनी कठिनाई से बचाकर दिए हैं—हम इस पर विचार करें, तब हमें आश्चर्य नहीं होगा।

सात पैसों के दान को कोई भी महान नहीं मानेगा, पर जैसी स्थिति में ये दिए गए, लाखों से कहीं अधिक मूल्य रखते हैं। यह एक आपेक्षिक सत्य है, इसे समझ लेने के बाद कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

अपेक्षा को नकारना अपने-आप को नकारना है। हमारे सारे व्यवहार सापेक्षता के सिद्धांत पर अवलंबित हैं। इसके सहारे विरोधी से विरोधी विचारों व तत्त्वों में भी तालमेल व संगति बैठाई जा सकती है। इसलिए जैन मनीषियों ने स्याद्वाद की स्तुति करते हुए कहा है—

स्याद्वादाय नमस्तस्मै यं बिना सकलाः क्रियाः।
लोक द्वितय भाविन्यो, नैव सांगत्यमश्नुते।।

इसीलिए भगवान ने कहा—वस्तु के एक पहलू को पकड़कर अटक जाने वाला द्रव्य नहीं बन सकता, यह एकांत बुद्धिगत धर्म है, वस्तुगत धर्म नहीं है। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मों का पुंज है। उसे विभिन्न कोणों से परख कर ही सत्य के निकट पहुंचा जा सकता है। एकांगी दृष्टिकोण यथार्थ को ग्रहण करने में अक्षम है।

ज्ञान अनंत है और ज्ञेय भी अनंत है, पर वाणी अनंत नहीं है। एक क्षण में अनंत ज्ञान द्वारा अनंत पदार्थ जाने जा सकते हैं, पर वाणी के द्वारा वे कहे

एक व्यक्ति अनेक विशेषताओं का धनी होता है, पर एक समय उसकी एक विशेषता का ही उल्लेख किया जाता है, अन्य विशेषताएं उस समय उपेक्षित या नकारी नहीं जाती। 'स्यात्' शब्द उनका प्रतिनिधित्व करता है। अनेकांतात्मक वस्तु ही इसका उद्गम स्रोत है और अपेक्षा इसकी नींव। एक ही वस्तु को नाना बिंदुओं से परखना ही इसका रहस्य है। चूंकि एक ही वस्तु प्रिय-अप्रिय, उपयोगी-अनुपयोगी, अच्छी-बुरी आदि सापेक्ष होती है, इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवेश में ही उसके सम्यक् रूप को जाना जा सकता है। अमुक वस्तु एकांततः अच्छी ही है या बुरी ही है—यह एकांगी कथन सत्य को अनावृत करने में लोहावरण है।

नहीं जा सकते। इसीलिए पदार्थ के दो रूप बनते हैं—1. अनभिलाप्य—अवाच्य, 2. अभिलाप्य—वाच्य।

यह भाषा की सीमा है कि वह एक क्षण में एक शब्द से सत्यांश ही प्रकट कर सकती है, अखंड सत्य को नहीं। इसी कारण समस्या का पत्थर खड़ा हो जाता है। इसी के समाधान में महावीर ने 'स्याद्वाद' की छैनी का आविष्कार किया।

अनेकांतात्मक वाक्य अपेक्षा भेद से अनंत धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादन की पद्धति ही स्याद्वाद है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनंत धर्मात्मकता को ओझल नहीं करते। 'स्यात्' शब्द के निर्दोष दर्पण में वह प्रतिबिंबित रहती है। स्याद्वाद अपेक्षा भेद से विरोधी धर्म युगलों का विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है। पर, जिस रूप से वह सत् है, उसी रूप से असत् नहीं। स्वरूप की दृष्टि से सत् ही है और पर रूप की दृष्टि से असत्। वह शाश्वत है और अशाश्वत भी। स्यात् शाश्वत है—अव्युच्छित्ति नय की दृष्टि से, और स्यात् अशाश्वत है—व्युच्छित्ति नय की दृष्टि से। वह उभयात्मक है। फिर भी जिस दृष्टि (द्रव्य-दृष्टि) से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नहीं है और जिस दृष्टि (पर्याय-दृष्टि) से अशाश्वत है, उससे अशाश्वत ही है। जिस दृष्टि से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नहीं है और जिस दृष्टि से अशाश्वत है, उसी दृष्टि से शाश्वत नहीं है। इस प्रकार दो निश्चित दृष्टि बिंदुओं के आधार पर प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशय रूप हो ही नहीं सकता। फिर भी अज्ञान के कारण 'संशयवाद' या संभववाद कहकर जो इसका उपहास करते हैं, वे दया के पात्र ही हो सकते हैं। जैसा कि—

दूषयेदज्ञ एवोच्चैः स्याद्वादं, न तु पंडितः
अज्ञ-प्रलोपे, सुज्ञानां, न द्वेषः करुणैव तु।।

स्याद्वाद को कथंचित्‌वाद या अपेक्षावाद भी कहा जाता है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य ने स्याद्वाद को निष्कंटक राज्य की अभिधा दी है। यह एक ऐसा साम्राज्य है, जिसमें किसी की उपेक्षा या अभाव काम्य नहीं। सबको समान अधिकार प्राप्त हैं। किसी के अस्तित्व को कुचलने का प्रश्न ही नहीं उठता। विवक्षा-भेद से प्रधान तो गौण व गौण प्रधान बन जाता है।

हम चलते हैं। एक पैर पहले उठता है, एक पीछे। पीछे वाला आगे और आगे वाला पीछे। इस क्रम से चलते हुए मंजिल पा लेते हैं। एक समय एक की प्रधानता होती है, दूसरा गौण। दूसरे ही क्षण प्रधान गौण बन जाता है और गौण प्रधान।

एक व्यक्ति अनेक विशेषताओं का धनी होता है, पर एक समय उसकी एक विशेषता का ही उल्लेख किया जाता है, अन्य विशेषताएं उस समय उपेक्षित या नकारी नहीं जाती। 'स्यात्' शब्द उनका प्रतिनिधित्व करता है। अनेकांतात्मक वस्तु ही इसका उद्‌गम स्रोत है और अपेक्षा इसकी नीवं। एक ही वस्तु को नाना बिंदुओं से परखना ही इसका रहस्य है। चूंकि एक ही वस्तु प्रिय-अप्रिय, उपयोगी-अनुपयोगी, अच्छी-बुरी आदि सापेक्ष होती है, इसलिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवेश में ही उसके सम्यक् रूप को जाना जा सकता है। अमुक वस्तु एकांततः अच्छी ही है या बुरी ही है—यह एकांगी कथन सत्य को अनावृत करने में लोहावरण है।

'जेण सिया तेण णो सिया'—यह शाश्वत स्वर वायुमंडल में प्रतिक्षण प्रतिध्वनित हो रहा है। एक ही वस्तु के लिए जो बंधन का हेतु है, वही अन्य के लिए मुक्ति का कारण भी।

जिस अंगूठी से सम्राट भरत मुक्त हो गए उसी से दूसरे बद्ध भी। अपने घर में किसी बड़े नेता के शुभागमन से व्यक्ति 'मूढ़' बन जाता है, लेकिन कुमार शालिभद्र के साथ इससे उलटा ही हुआ। राजा को घर आए देख उनमें विरक्ति के अंकुर फूट पड़े।

'संखिया' विष है, पर किसी रुजाक्रांत के लिए अमृत भी। नवनीत पौष्टिक तत्त्व है, पर कांसी की थाली में उसके अधिक मंथन से वही जहर बन जाता है।

जो काजल आंखों का सौंदर्य निखारता है, वही अगर मुंह पर पोत लिया जाए, तो कुरूपता का हेतु बन जाता है। जो वस्त्र शीतकाल में उपयोगी होते हैं, वे ही वस्त्र ग्रीष्म ऋतु में अनुपयोगी भी। जो वस्तु संयोग में प्रिय प्रतीत होती है, वही वियोगावस्था में अप्रिय अनुभव होती है। दुनिया को कड़वे लगने वाले अध्यात्म-स्वर योगी को मीठे लगते हैं। एक शब्द में अनंत अर्थ गर्भित हैं। पर उसका वाच्यार्थ अपनी-अपनी दृष्टि से ग्रहण किया जाता है। जैसे—सुवर्ण शब्द का उच्चारण करते ही कवि का अच्छे वर्णों की ओर झुकाव होगा, व्यभिचारी व्यक्ति सुवर्ण—रूप-सौंदर्य पर मंडराने लगेगा तो एक चोर की लालची आंखें सुवर्ण—सोने पर जा टिकेंगी।

सुनने वाले को वक्ता की विवक्षा समझना अनिवार्य है। वह किस संदर्भ में, किस अपेक्षा से, किस लहजे में, किस परिस्थिति में, क्या कह रहा है, समझे बिना उसके साथ न्याय नहीं कर सकते।

एक बार तथागत ने रात्रिकालीन प्रवचनोपरांत सबको रात्रिकालीन 'अंतःक्रिया' करने का उपदेश दिया। श्रोताओं ने 'तथास्तु' कह अनुशास्ता का वचन स्वीकार किया। भिक्षु रात्रिकालीन 'अंतःक्रिया' ध्यान में लीन हो गए। चोर वहां से उठ चोरी के लिए चल पड़े। वेश्या ने अपना काम संभाला और युवक-युवतियों ने अपना। एक ही शब्द से अनेक प्रवृत्तियां निष्पन्न हुईं। क्योंकि वक्ता की विवक्षा समझने में वे असफल रहे। युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने एक जगह लिखा है—

जितना सोएं उतना पाएं, क्यों कोई आ हमें जगाए।
हम हैं स्वयं स्वयं में लीन, क्यों हो गर्वित क्यों हो दीन।।

एक प्राचीन आचार्य ने इस तरह उद्‌बोधन दिया—

जागरह नरा निच्चं जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धि।
जो सुवइ ण सो धन्नो, जो जग्गइ सो सया धन्नो।।

मनुष्यो! जागो, जाग्रत की बुद्धि विकास पाती है। सोने वाला कभी धन्य नहीं होता, जगने वाला सदा धन्य होता है। बात बड़ी बेमेल लगती है। पर, संदर्भ समझते ही अटपटापन अपने-आप दूर हो जाता है। स्थानांग सूत्र में निर्दिष्ट चार सुख-शैय्याओं की ओर ध्यानाकर्षण करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—इन चार सुख-शैय्याओं में हम जितना शयन करेंगे उतने ही आत्मोपलब्धि में अधिक सक्षम होंगे।

महावीर ने जयंती के प्रश्न को समाहित करते हुए कहा—जयंती! कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्याद्वाद की भाषा में विषम का प्रतिपादन करने व समझने में कोई उलझन नहीं होती। जब आपेक्षिक सत्यों को हम अखंड या निरपेक्ष सत्य मान लेते हैं—वहीं विवाद उत्पन्न होता है।

मैं सोचता हूं, वही ठीक है—इसमें किसी को आपत्ति नहीं होती। किंतु, जब मात्र यही न्यायसंगत व उचित है, शेष सब गलत—ऐसी सोच आ जाती है तो वहां संघर्ष की चिनगारियां उछलने लगती हैं।

प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र चिंतन का अधिकारी है। यदि वह कंप्यूटर या कोई अन्य यंत्र होता तो सब एक ही सांचे में ढलकर निकलते। पर ऐसा है नहीं। इस स्थिति में किसी के अस्तित्व पर हावी होने की मनोवृत्ति अवांछनीय है।

एक स्याद्वादी—सत्यदर्शी मिथ्या आग्रह का कभी पोषण नहीं कर सकता। सत्य-संधित्सु हमेशा अनाग्रही होता है। हठधर्मिता व एकांताभिनिवेश को वह सत्य-संधित्सा में पलिमंथु मानता है। स्वामीजी (आचार्य भिक्षु) की चिंतन-शैली व जीवन-व्यवहार अनाग्रह का मूर्तरूप है। उन्होंने जो भी निर्णय लिए, विधि-विधान बनाए, उन्हें तर्क की कसौटी पर कसते हुए सत्य की सही समझ माना। उन्होंने कहा—हो सकता है, मुझे जो सही व अहिंसक प्रतीत होता है, आने वाली पीढ़ी को उससे भिन्न प्रतीत हो। इसलिए उन पर अपरिवर्तनीयता की छाप नहीं लगाई।

कोई भी वैज्ञानिक अपनी उपलब्धि को अंतिम नहीं मानता। वह उसमें उत्तरोत्तर संभावनाएं देखता है। अंततोगत्वा हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सब समस्याओं का स्रोत है आग्रह का संरोहण। आग्रह असत्य को जन्म देता है और असत्य समस्याओं को।

सापेक्ष दृष्टि का प्रतिपादन भारतीय विचारधारा को महावीर की बहुत बड़ी देन है। इससे अनाग्रह का विकास होता है। अनाग्रह से सत्य का स्पर्श और सत्य के स्पर्श से समस्याओं का समाधान होता है।

'ही' और 'भी' का सम्यक् प्रयोग सरस, शांत व सुमधुर जीवन जीने की महत्त्वपूर्ण कला है। हम सापेक्ष सत्यों के जगत् में जीते हैं, इसीलिए उनकी व्याख्या हमारे लिए अधिक मूल्यवान है। ❖

☐ भिक्षु अभिनिष्क्रमण दिवस ☐ चैत्र शुक्ला ~~त्रयोदशी~~	☐ भिक्षु अभिनिष्क्रमण दिवस ☐ चैत्र शुक्ला नवमी

जैन भारती के अप्रैल, 2005 अंक में पृष्ठ 31 पर श्री जिनेंद्र कोठारी के आलेख में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी छप गया, जबकि है—चैत्र शुक्ला नवमी। पाठकों को हुई असुविधा के लिए हमें खेद है। —सं.

मिनी को मिली सहेली

पद्मा राव

बच्चे अभी पार्क में खेल ही रहे थे कि बरसात की बूंदा-बांदी शुरू हो गई। बूंदों की परवाह किए बिना बच्चे खेल में लगे रहे। वे लाल रंग की बड़ी-सी गेंद को उछाल-उछालकर खेल रहे थे। मिनी ने देखा कि तभी अचानक एक भूरे रंग की गेंद-सी कोई चीज नीचे गिरी। लड़कियां चीखने लगीं। लड़के जोर से चिल्लाते हुए उस गेंद-सी चीज के चारों तरफ घेरा बनाकर खड़े हो गए और उसे गौर से देखने लगे। तभी वह गेंद-सी चीज जोर से उछली और फड़फड़ाती हुई मिनी की गोद में आ गिरी। मिनी पहले तो बुरी तरह घबरा गई, पर फिर उसने हिम्मत करके देखा तो जाना कि गिरने वाली चीज गेंद नहीं, एक पक्षी है। वह डर के मारे मिनी की गोद में दुबका हुआ था। तभी वर्षा तेज हो गई।

मार्च का महीना था और पतझड़ का मौसम। तेज हवा चलते-चलते अंधड़ का रूप ले लेती थी। हवा से पेड़ों की पीली-पीली पत्तियों के साथ पतली-पतली शाखाएं भी टूटकर गिर जातीं। शाम को मौसम ठंडा हो जाता तो मिनी अपनी पहिए वाली कुर्सी को बाल्कनी में ले आती। पहली मंजिल के अपने फ्लैट की बाल्कनी से वह नीचे पार्क में खेलते बच्चों को देखती रहती। बच्चों को खेलता देख उसका मन भी खेलने को करता, परंतु वह ठीक से चल-फिर नहीं सकती थी। जन्म से ही उसके हाथ और पांव खराब थे, इसलिए वह बच्चों के साथ खेल-कूद नहीं सकती थी। पहिए वाली कुर्सी पर बैठी, बस, देखती रहती। वह देखती कि बच्चे तेज हवा और सिर पर गिरते नीम के पीले पत्तों की परवाह किए बिना मस्त हो खेलते रहते हैं।

एक दिन मिनी बाल्कनी में बैठी बच्चों को खेलते देख रही थी। तभी उसकी माँ ने रसोईघर से पुकारा—'मिनी बेटी! अंदर आ जाओ ना!'

'एक मिनट रुक जाओ, माँ!' मिनी ने कहा। वह बच्चों का एक बड़ी-सी लाल गेंद को उछाल-उछालकर खेलना देख रही थी।

'मिनी बेटे, बहुत देर हो गई है! चलो अंदर चलें, तुम तो मेरी रानी बेटी हो न!' कहती हुई मां बाल्कनी में आ गई। उसने नीचे देखा बच्चे खेल रहे हैं। मां वापस लौट गई। जाते-जाते कह गई—'मिनी! अगर बूंदा-बांदी होने लगे तो अंदर आ जाना, भीगना मत।'

मिनी अभी बारह वर्ष की है। हाथ-पांव ठीक न होने के कारण वह एक विशेष स्कूल में जाती है। यहां पढ़ाई-लिखाई के साथ उसे तरह-तरह के व्यायाम और बोलना भी सिखाया जाता है। इस तरह उसने किसी प्रकार धीरे-धीरे चलना और हाथों से पेन, ब्रश या चम्मच

पकड़ना सीख लिया है। अब तो वह अपनी पहिए वाली कुर्सी भी चला लेती है। उसके पिताजी उसे स्कूल छोड़ आते हैं। मां उसे दोपहर को स्कूल से ले आती है।

मिनी को इस कॉलोनी में आए छह महीने हो गए हैं, लेकिन कोई भी बच्ची उसकी सहेली नहीं बन सकी है। पड़ोस के सारे बच्चे अपने-अपने खेल में मस्त रहते हैं। वे मिनी की तरफ ध्यान भी नहीं देते।

शाम का समय यों तो मिनी को बहुत अच्छा लगता है, परंतु कोई संगी-साथी न होने से, अकेली कई बार उदास हो जाती है। वह अपनी पहिए वाली कुर्सी को बाल्कनी में लाकर नीचे देखती रहती है। नीचे पार्क में बच्चों को खेलते देखना उसे अच्छा लगता है। उसका मन लगा रहता है और उसकी शाम आराम से कट जाती है।

बच्चे अभी पार्क में खेल ही रहे थे कि बरसात की बूंदा-बांदी शुरू हो गई। बूंदों की परवाह किए बिना बच्चे खेल में लगे रहे। वे लाल रंग की बड़ी-सी गेंद को उछाल-उछालकर खेल रहे थे। मिनी ने देखा कि तभी अचानक एक भूरे रंग की गेंद-सी कोई चीज नीचे गिरी। लड़कियां चीखने लगीं। लड़के जोर से चिल्लाते हुए उस गेंद-सी चीज के चारों तरफ घेरा बनाकर खड़े हो गए और उसे गौर से देखने लगे। तभी वह गेंद-सी चीज जोर से उछली और फड़फड़ाती हुई मिनी की गोद में आ गिरी। मिनी पहले तो बुरी तरह घबरा गई, पर फिर उसने हिम्मत करके देखा तो जाना कि गिरने वाली चीज गेंद नहीं, एक पक्षी है। वह डर के मारे मिनी की गोद में दुबका हुआ था। तभी वर्षा तेज हो गई।

'मां....मां....जल्दी जाओ।'—मिनी ने मां को जोर से पुकारा।

'क्या बात है, मिनी?'

'देखो मां, यह आसमान से आ गिरी है, लगता है बतख है!'

मां ने बताया। 'मिनी, यह बतख है—शौवलर प्रजाति की बतख। यह उन प्रवासी पक्षियों में से एक है जो हजारों किलोमीटर दूर उत्तर की ओर बर्फानी प्रदेशों में रहते हैं। जब वहां सर्दी ज्यादा बढ़ जाती है तो वे दक्षिण की ओर गरम प्रदेशों में उड़ जाते हैं। जाड़े के मौसम में यहीं रहते हैं और गरमियां शुरू होते ही वापस लौट पड़ते हैं।'

वह बतख ही थी—जंगली बतख, बहुत ही सुंदर! उसके पंख मुलायम—बिल्कुल मखमल जैसे थे। पीठ पर चमकदार नीले-सफेद बाल, जिनमें कहीं-कहीं भूरे रंग के छींटे-से थे।

'यह तो बहुत थकी हुई दिखाई दे रही है, मां।'—मिनी ने कहा।

'हां, ऐसा लगता है कि अपने देश वापस लौटते समय अपने झुंड से बिछुड़ गई है। अपने झुंड को ढूंढ़ने के लिए ज्यादा उड़ान भरने से थक गई और पंखों की थकान की वजह से कहीं टकराकर घायल हो गई है।'

'हां मां, ऐसा ही लगता है।'—मिनी ने कहा।

मिनी की मां ने उसे अपने हाथों में उठाना चाहा तो वह पंख फड़फड़ाकर, लड़खड़ाती हुई अंदर कमरे में चली गई। एक कोने में लेटकर वह हांफने लगी।

मिनी और मां ने बहुत कोशिश की कि बतख कुछ खा ले। डबलरोटी के टुकड़े, फलों के टुकड़े व अनाज के दाने, सब उन्होंने बारी-बारी उसके आगे डाले। पर उसने कुछ नहीं खाया।

'मां, इसको दूध में चावल मिलाकर दो, शायद खा ले।'

मिनी की मां ने उबले चावल दूध में मिलाकर कटोरी में रखे, पर बतख ने मुंह भी नहीं लगाया। तब मिनी ने उसे पुचकारा और मां ने उसे पकड़कर प्यार से मिनी की गोद में बैठा दिया। फिर उसकी चोंच खोलकर ड्रॉपर से दूध उसके मुंह में डाल दिया। पेट में दूध जाते ही बतख में जान-सी आ गई। उसकी आंखें चमकने लगीं। उसने अपने पंख फैलाए और आराम से मिनी की गोद में लेट गई।

'मां, यह मेरी सहेली है! मैं इसका नाम 'सहेली' रखूंगी।' —मिनी ने कहा।

मां जानती थी, मिनी की कोई सहेली नहीं है, इसलिए उसके मन की बात समझकर वह मुस्करा दी।

रात होने पर उसके पिताजी ने पूछा—'मिनी की सहेली कहां सोएगी?'

'यहां मेरे पास, मेरे पलंग के पास सुला दीजिए।'

मिनी के पिताजी ने एक टोकरी में सूखी घास रखकर सहेली को वहां सुला दिया। वह रात-भर खूब आराम से सोई रही।

सुबह उठते ही मिनी ने टोकरी की ओर देखा। टोकरी खाली थी। उसने पुकारा—'सहेली!'

मिनी ने देखा वह बाथरूम के दरवाजे के पास भीगी हुई झांक रही है। उसके पांव साफ-सुथरे और चमकदार हो गए थे। मिनी जोर से हंस पड़ी। मिनी खिसक-खिसककर उसके पास पहुंची तो वह पंख फड़फड़ाकर लंगड़ाती हुई कुछ और दूर जा खड़ी हुई। मिनी ने उसे फिर पकड़ने की कोशिश की तो फिर दूर हो गई। कुछ देर यों ही खेलने के बाद वह मिनी की पकड़ में आ गई।

पंखों की फड़फड़ाहट सुनकर मां आई और बोली—'अरे! यह क्या हो रहा है?' फिर बतख को मिनी की गोद में देखकर कहने लगी—'चलो मिनी, तुम्हारा और तुम्हारी सहेली का नाश्ता तैयार हो गया है।'

'मां! मैं पहले सहेली को खिला दूं, फिर खुद खाऊंगी।'

तभी दरवाजे की घंटी बजी। कई बच्चे वहां खड़े थे। वे सब स्कूल जाने के लिए तैयार होकर आए थे। उन्होंने पूछा—'आंटी, क्या हम बतख को देख लें?'

'हां....हां....आओ....यह देखो!'

मिनी बतख को गोद में लिए उसे ड्रॉपर से दूध पिला रही थी।

बच्चों को बहुत आश्चर्य हुआ। वे उसे छू-छूकर देखने और खेलने लगे। फिर वे स्कूल चले गए। जाते-जाते कह गए—'मिनी, हम सब स्कूल के बाद आएंगे।'

मिनी को भी अपने स्कूल के लिए तैयार होना था। उसने सहेली को टोकरी में लिटाया और तैयार होकर स्कूल चली गई।

शाम को बच्चों का झुंड फिर से मिनी के घर आ गया।

बंटी बोला—'इस बेचारी सहेली के सारे साथी तो बहुत दूर उड़ गए होंगे?'

'और यहां इसका कोई दोस्त बनेगा भी नहीं, क्योंकि यह लंगड़ी हो गई।' अंजू ने कहा। लेकिन मिनी का ध्यान आते ही अंजू ने अपने मुंह पर हाथ रख लिया। पर अब क्या हो सकता था, बात तो निकल ही चुकी थी।

'मैं उसके पैर और पंख को दवाई लगाकर ठीक कर दूंगी। ठीक होते ही देखना यह फिर से उड़ सकेगी।'—मिनी ने कहा। दूसरे बच्चों ने भी हां में अपनी गरदन हिलाई।

इस घटना के बाद से वे सभी बच्चे सुबह-शाम मिनी की सहेली को देखने और खेलने आते। अब वे सब मिनी के भी दोस्त बन गए। सहेली भी सबके साथ खूब खेलती।

अंजू एक दिन मिनी के लिए एक किताब लाई, किताब काफी मोटी और चित्रों वाली थी। यह किताब पक्षियों के बारे में थी। बच्चों ने झटपट इस किताब के चित्रों में से सहेली का चित्र ढूंढ़ निकाला। सहेली जैसी बतख के नीचे लिखा था—'शौवलर' यानी सहेली शौवलर प्रजाति की बतख थी। किताब में शौवलर के व्यवहार, खान-पान, रहने के तरीके के बारे में काफी-कुछ लिखा था। बच्चे इकट्ठा होकर उसे देख रहे थे।

प्रिया ने बताया—'शौवलर तो सैकड़ों किलोमीटर उड़ सकती है।'

'सैकड़ों नहीं, हजारों किलोमीटर।' बंटी ने उसकी बात काटते हुए कहा।

बच्चे किताब पढ़ रहे थे और सहेली के बारे में जानकारी प्राप्त कर रहे थे।

कुछ दिन बाद मिनी की देखभाल से सहेली बिल्कुल ठीक हो गई। अब वह उड़ सकती थी। वह एक कमरे से दूसरे कमरे में उड़ती भी रहती थी।

एक रविवार को मिनी के पिताजी मिनी और सभी बच्चों को शहर के बाहर वाली नहर पर ले गए। नहर के पास बड़ा-सा सुंदर पार्क था। पार्क में लोग पिकनिक मनाने आते थे। सहेली को मिनी अपनी गोद में लिए हुए थी। सभी बच्चों ने उसे प्यार से सहलाया। फिर बच्चों ने सहेली को आहिस्ता से नहर में छोड़ दिया। सहेली तैरने लगी और खुशी से पंख फड़फड़ाकर पानी उछालने लगी। बच्चे बहुत देर तक उसे तैरते देखते रहे। वह तैरते-तैरते दूर निकल गई।

मिनी और बच्चे सहेली को 'टा-टा, बाय-बाय' कहकर अपने घर लौट आए।

अगले दिन मिनी बाल्कनी में अपनी पहिएदार कुर्सी पर बैठी थी। अभी तक पार्क में एक भी बच्चा खेलने नहीं आया था। वह सहेली के बिना उदास तो थी, लेकिन खुश भी थी कि उसकी सहेली अपनी सही जगह पहुंच गई है और अब वह अपने संगी-साथियों के पास भी पहुंच ही जाएगी।

तभी दरवाजे की घंटी बजी। सारे बच्चे वहां खड़े थे। अंजू कह रही थी—'आंटी, मिनी को हमारे साथ खेलने भेज दीजिए। हम उसे बहुत संभालकर ले जाएंगे!'

'हम उसका ध्यान भी रखेंगे!' बंटी बोला।

बच्चों के साथ मिनी बहुत उत्साह से पार्क में खेलने जा रही थी। मिनी को अब बहुत-से मित्र मिल गए थे। अब मिनी उदास और अकेली नहीं रहेगी। ❖

श्रम : आध्यात्मिक अभिप्राय पृष्ठ 47 का शेष

लिखते हैं—

तिस्रः स्युर्व्यावृताः कार्ये, नैका व्यापारमाश्रिता।
अशान्तसहवासस्य, बीजमेतत् परिस्फुटम्।।

श्रम के मंदिर में प्रत्येक पुजारी को समान अधिकार प्राप्त है।

श्रम और सेवा का समीकरण

तेरापंथ एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित धर्मसंघ है। इसमें दो महत्त्वपूर्ण मूल्य प्रतिष्ठित हैं—सेवा और श्रम। तेरापंथ के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है—यथोचित श्रम करें एवं यथा-अपेक्षा सेवा करें। श्रम और सेवा के विनिमय का आधार है—मुद्रा, जिसे संघीय भाषा में 'गाथा' कहा जाता है। एक दिन की सेवा का मूल्य है 25 गाथा। एक व्यक्ति गाथा-लेखन के द्वारा सेवा और सेवा के द्वारा गाथा प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार सिलाई, रंगाई आदि कार्यों का भी गाथा के आधार पर आदान-प्रदान हो सकता है।

इतना सब होने पर भी कोई साधु या साध्वी सेवा या श्रम के किसी भी कार्य से इंकार नहीं कर सकता, अपितु अपने-आप को अहमहमिका प्रस्तुत करता है, नियुक्त होने पर अपना गौरव समझता है।

श्रम : आत्मचिंतन

क्या श्रम-चेतना को मैं जीवन का आवश्यक अंग मानती हूं? कठोर परिश्रम से प्राप्त हुई थकान क्या मुझे प्रसन्नता देती है? क्या, श्रम करते समय प्रदर्शन का भाव मन में आता है? क्या अपने दायित्व का श्रम दूसरों से करवाना अच्छा लगता है? पूरे दिन में केवल स्वोपयोगी श्रम ही किया या अपने श्रम का नियोजन दूसरे के उपकार के लिए भी किया? मेरा अधिक समय निरवद्य और सार्थक श्रम में लगता है या सावद्य और निरर्थक श्रम में? भिक्षु स्वामी 77 वर्ष की अवस्था में इतना श्रम करते थे, गुरुदेव श्री महाप्रज्ञजी 85 वर्ष की अवस्था में इतना श्रम करते हैं? मैं कितना श्रम करती हूँ?

ऐसा आत्मचिंतन श्रम के प्रति प्रत्येक साधु-साध्वी को अभिप्रेरणा देता है। यही वजह है कि तेरापंथ संघ में श्रम के प्रति सहज श्रद्धा है, श्रम भी साधना का अविभाज्य अंग है।

❖

कोबा (गांधीनगर)
पि. ३८२ ००९

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

जैन भारती, मई, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

Your Partner in Progress

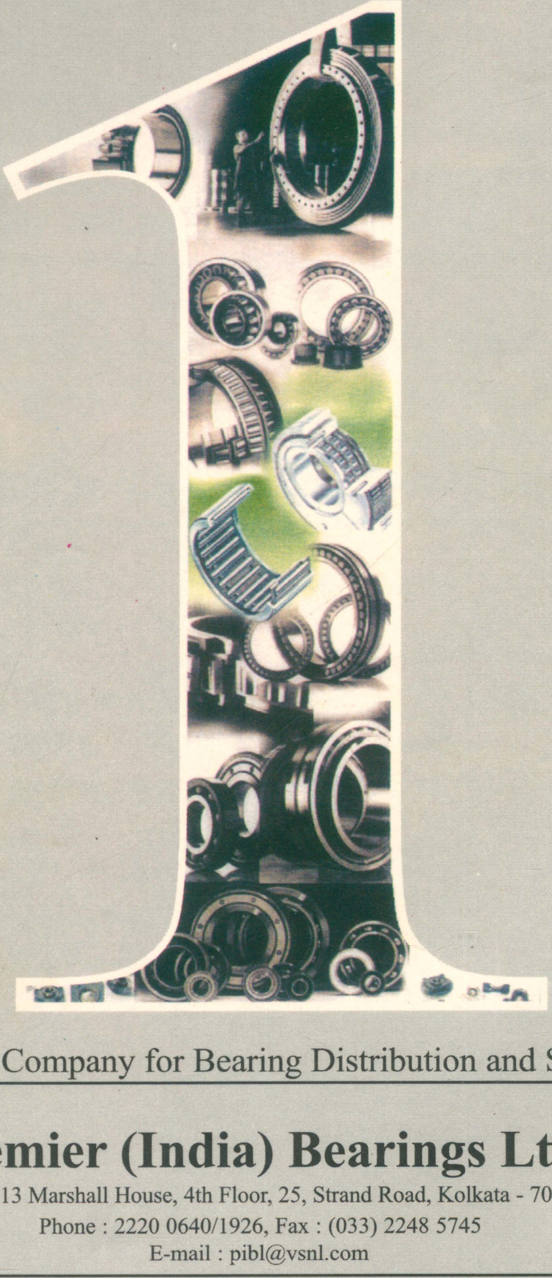

India's No. 1 Company for Bearing Distribution and Shaft solution

INA
Authorised Distributor

Premier (India) Bearings Ltd.

407 & 413 Marshall House, 4th Floor, 25, Strand Road, Kolkata - 700001
Phone : 2220 0640/1926, Fax : (033) 2248 5745
E-mail : pibl@vsnl.com

FAG Star Distributor

Our Branches Office : • Chennai • Mumbai • Chandigarh • Gurgaon • Kochi • Ludhiana

Website : http://www.mahadealer.com

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।